2

भर्तृहरि : व्यक्तित्व और उनका भाषा-चिंतन

सत्यकाम वर्मा

भर्तृहरि का व्यक्तित्व एक युगांतरकारी व्यक्तित्व था। वह परम योगिराज भी थे, वेदों के अप्रतिम ज्ञाता भी थे, अग्रणी कवि भी थे, महावैयाकरण भी थे और थे परम पदवाक्यप्रमाणज्ञ भी। आज हमारा सौभाग्य है कि हम उनके साहित्यकार रूप से भी परिचित हैं और महावैयाकरण एवं पदवाक्यप्रमाणज्ञ रूप से भी। किंतु आज से छह-सात दशक पहले तक हम उनके केवल कवि या सलाहकार रूप से ही परिचित थे। दूसरा रूप जो उनका हम तक पहुंचा था, वह केवल जनश्रुतियों एवं किंवदंतियों के माध्यम से ही पहुंचा था, फिर भले ही उनका स्रोत नाथ-पंथियों की परंपरा रही हो या बौद्धसाधकों की परंपरा। पश्चिम में प्रामाणिक समझा जाने वाला चीनी यात्री इत्सिङ् ही एकमात्र ऐसा विदेशी इतिहासकार है, जिसने भर्तृहरि का उल्लेख किंचित् विस्तार से दिया है। किंतु यह परिचय स्वतः किंवदंतियों एवं जनश्रुतियों पर आधारित है। संस्कृत व्याकरण के परम प्रामाणिक इतिहासकारों ने अकाट्य प्रमाणों के आधार पर इत्सिङ् के कथनों की अप्रामाणिकता को स्पष्ट किया है।

हमारा प्रयास होगा कि हम उनके व्यक्ति-जीवन के इन पक्षों को केवल स्पर्शमात्र करते हुए उनके वास्तविक कृतित्व तथा साहित्य-भाषा-चिंतन एवं व्याकरण-दर्शन के क्षेत्र में उनकी देनों पर संक्षेप में विचार करें।

सांसारिक जीवन

जहां तक भर्तृहरि के जीवन का संबंध है, उसका परिचय हमें तीन स्रोतों के आधार पर मिलता है : (i) उनके काव्यग्रंथों में आये संकेतों के आधार

पर, (ii) सिद्ध-योगियों की परंपरा के आधार पर, एवं (iii) इत्सिङ् के वक्तव्य के आधार पर। इनमें से उनके व्यक्तिसंबंध के विषय में परिचय केवल सिद्धयोगी परंपरा से ही मिलता है। इसके अनुसार उन्हें राजा गोपीचंद्र अथवा राजा विक्रमादित्य का छोटा भाई माना जाता है। कहा जाता है कि वे अपने समस्त भौतिक सुख एवं अधिकार छोड़कर योगी बन गये थे। निश्चय ही उन्हें यह वैराग्य गृहस्थ-जीवन में प्रवेश के बाद हुआ था। बाद में उन्हें गुरु गोरखनाथ का शिष्यत्व प्राप्त हुआ। उनके **नीतिशतक**, **श्रृंगारशतक** एवं **वैराग्यशतक** नाम के तीनों काव्यग्रंथों के आधार पर उनके जीवन को इन्हीं तीन शतकों के पूर्वोक्त क्रम के आधार पर बांटकर देखते हैं। 'नीति-शतक' के आधार पर उन्हें परम नीतिविद् एवं अनुभवी विद्वान् बताया जाता है। इसके कुछ वक्तव्यों के आधार पर उन्हें राजपरिवार या राजन्यवर्ग के तौर-तरीक़ों से परिचित भी सिद्ध किया जाता है। कुछेक वक्तव्यों से ऐसा लगता है कि वे 'राजा' और 'विद्वान्' के बीच होनेवाले अंतर्विरोध से व्यथित थे और उन्हें जैसे 'विद्वान्' कहलाना, 'राजा' कहलाने की अपेक्षा, कहीं अधिक आकर्षक एवं महत्त्वपूर्ण लगता था। 'श्रृंगारशतक' के आधार पर उनके गृहस्थ-जीवन को पुनर्गठित करनेवालों का कथन है कि वे अपनी प्रेमिका या पत्नी में परम आसक्त थे। उनका 'प्रेमी' रूप अत्यधिक आकर्षक एवं रागरंजित था। इसीके आधार पर यह भी कहा जाता है कि उन्होंने पर्याप्त काल तक गृहस्थ-सुख का आनंद उठाया। 'वैराग्यशतक' को उनके जीवन के पर-वर्ती अंश का रहस्योद्घाटक माना जाता है। इसके आधार पर यह कहा जाता है कि वे अपनी प्रेयसी या पत्नी के छद्मप्रेम का रहस्योद्घाटन होते ही वैराग्य ग्रहण कर संसार-त्यागी हो गये थे। उनका यह वैराग्य भरे यौवन में ही हुआ था, ऐसा माना जाता है।

इन दोनों कथाओं की तुलना में इत्सिङ् का विवरण एक नवीनता लिए हुए है। इन पूर्वोक्त दोनों ही स्रोतों से भर्तृहरि की विद्वत्ता का कुछ भी परि-चय प्राप्त नहीं होता। उधर इत्सिङ् भर्तृहरि के 'महावैयाकरण' होने की बात अत्यधिक बलपूर्वक कहते हैं। वैयाकरणों के वक्तव्यों और ग्रंथों के अति-रिक्त भर्तृहरि के इस वैयाकरण रूप का परिचय हमें उनसे सम्बद्ध इत्सिङ् की उक्ति से ही मिलता है। जहां तक उनकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृतियां 'महा-भाष्यटीका' एवं 'वाक्यपदीय' का संबंध है, यह परिचय पूर्ण प्रामाणिक न होने पर भी महत्त्वपूर्ण एवं अर्धविश्वसनीय कहा जा सकता है। परंतु भर्तृहरि के संबंध में इत्सिङ् का शेष वक्तव्य किंवदंतियों एवं जनश्रुतियों पर ही आधारित है। उनके अपने वक्तव्य के अनुसार यह परम वैयाकरण भर्तृहरि उनके अपने भारत आगमन से कुल पचास वर्ष पूर्व ही दिवंगत हो चुका था। उनके

कथनानुसार पूर्वोक्त दोनों स्रोतों से उपलब्ध तथ्य उन्हें स्वीकार्य थे और बौद्ध-परंपरा में गृहस्थ और संन्यास के बीच आवागमन की छूट दी गयी है। इसलिए यह वक्तव्य उन्हें बौद्ध सिद्ध करने का पर्याप्त आधार माना जा सकता है। इसीके आधार पर भर्तृहरि का जीवनकाल 600 से 650 ईस्वी के आसपास का माना जा सकता है।

अब यदि इन तीनों ही कथाओं को एक साथ रखकर पढ़ा जाये और इन्हें प्रामाणिक भी मान लिया जाये, तो इनसे सर्वप्रमुख तथ्य यह उभरकर सामने आता है कि भर्तृहरि के परम विद्वान् एवं परम नीतिविद् होने पर भी उनका गृहस्थ-जीवन अत्यधिक सुखी नहीं था। परंतु अत्यधिक छानबीन के बाद इन बातों में कुछ अंतर्विरोध सामने आने लगते हैं। सर्वप्रथम तो यह कि यदि इत्सिङ् और नाथ-परंपरा की बात मान लें, और यह स्वीकार कर लें कि ये बातें महावैयाकरण भर्तृहरि के जीवन से ही संबद्ध हैं, तो भर्तृहरि का काल 650 ईसवी के आसपास बैठता है। किंतु व्याकरणग्रंथों के अंत:साक्ष्य क आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भर्तृहरि के व्याकरणग्रंथों का काल पांचवीं शती के मध्य से लेकर छठी शती के आरंभ तक ही ठहर सकता है, बाद में नहीं। तब यह अंतर्विरोध क्यों ?

व्याकरण के प्रामाणिक इतिहासकारों का कथन है कि संभवत: इत्सिङ् के आगमन से पचास वर्ष पूर्व जिस भर्तृहरि की मृत्यु हुई होगी, वह नाथ-सिद्ध परंपरा का योगी भर्तृहरि रहा होगा।[1] कदाचित् उसका संबंध किसी राज-परिवार के साथ भी रहा होगा। इत्सिङ् को भर्तृहरि के संबंध में जितने भी वक्तव्य मिले उसने बिना छानबीन किये उन सबका संबंध इस परवर्ती भर्तृहरि के साथ ही कर दिया। परिणाम यह कि महावैयाकरण भर्तृहरि का काल एक सौ साल से भी अधिक बाद में तय किया गया। वैसे भी यदि 'वाक्यपदीय' या भर्तृहरि की 'महाभाष्यटीका' का सूक्ष्म अध्ययन किया जाये तो अंत:साक्ष्य के आधार पर भर्तृहरि परमवेदविद् ठहरते हैं। बौद्ध विचारधारा या वैराग्य की विचारधारा का उनसे दूर का संबंध भी नहीं ठहरता। इसपर यह भी सत्य है कि नीतिशतक के कुछ श्लोक ऐसे हैं, जिनमें अनेक बातें ऐसी हैं, जिनका साम्य उनकी वाक्यपदीयोक्त और महाभाष्यटीकोक्त बातों के साथ किया जा सकता है। अत: यदि यह मान लिया जाये कि कवि एवं वैयाकरण भर्तृहरि एक ही थे, तो नाथ-बौद्ध परंपरा वाले भर्तृहरि को एक पृथक् व्यक्तित्व के रूप में ही स्वीकार करना होगा। इसका एक बड़ा कारण यह भी है कि इन पूर्वोक्त ग्रंथों में भर्तृहरि की जो योगविषयक उक्तियां हमें मिलती हैं, वे पातंजल योग की परंपरा में अधिक हैं न कि परवर्ती हठयोग की परंपरा में। अत: इन दोनों व्यक्तियों को अलग-अलग स्वीकार करना ही उचित है। वैसे तो वैयाकरण-

परंपरा में भी 'भर्तृहरि' नाम के अनेक वैयाकरणों को मानने की बात कभी-कभी उभरकर सामने आती है। इसीलिए संस्कृत के दोनों व्याकरणेतिहास-कारों—पं० युधिष्ठिर मीमांसक एवं डा० सत्यकाम वर्मा—ने यह संभावना व्यक्त की है कि इत्सिङ् जिस 'भर्तृहरि' के दिवंगत होने की बात कर रहे हैं, वह या तो 'भट्टिकाव्य' का रचयिता 'भर्तृस्वामी' या 'भर्तृहरि' रहा होगा, अथवा वह 'भागवृत्ति' का रचयिता विमलमति' रहा होगा। उधर यह भी संभव है कि बार-बार गृहस्थ को त्यागकर 'जोगी' या 'श्रमण' बननेवाला 'राजा गोपीचंद्र' का भाई भर्तृहरि भी उसी समय दिवंगत हो चुका होगा, जिसके नामसाम्य के कारण इत्सिङ् ने दोनों व्यक्तियों को एकाकार कर दिया। और तब अनुमानाश्रित बात करनेवाले आलोचकों ने 'वैराग्यशतक' की रचना का हेतु इसी प्रकार के वैराग्य को घोषित कर दिया और जोगी भर्तृहरि के जीवन की संभावित वैराग्यमूलक घटना को महावैयाकरण भर्तृहरि के जीवन के साथ जोड़ दिया।

तिथि-निर्णय

महावैयाकरण भर्तृहरि का संभावित काल क्या रहा होगा ? इस प्रश्न पर भी पूर्वोक्त दोनों ही व्याकरणेतिहासकारों ने विचार किया है और प्रमाणों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह काल 'काशिका' की रचना—सातवीं शती ईसवी—से पूर्व का ही होना चाहिए। प्रस्तुत लेखक के मत में यह काल पांचवीं शती ईसवी के आरंभ में माना जाये तो अधिक उचित होगा। फिर भी छठी शती से बाद का तो किसी भी रूप में नहीं हो सकता। इसका सबसे बड़ा कारण है, इस ग्रंथ की संभावित मूल प्रति के लेखन का संभावित काल ! लेखक के मत में यह लिपि छठी शती से पूर्व ही प्रचलित रही थी।[2] ऐसा इसके कुछ विशिष्ट लिपि-चिह्नों के कारण कहा जा सकता है। ऐसा मानने से तथाकथित 'विक्रमादित्य का भाई' होने की बात भी भर्तृहरि के संबंध में संगत बैठती है, क्योंकि यह 'पदनाम' जिन दो महापराक्रमशाली राजाओं को प्राप्त हुआ था, वे दोनों ही—चंद्रगुप्त विक्रमादित्य एवं स्कंदगुप्त विक्रमादित्य—इसी कालांतर में हुए। दोनों के बीच चालीस-पचास वर्ष का ही व्यवधान है। अत: पांचवीं शती के आरंभ से लेकर छठी शती के आरंभ तक के बीच उनका काल रखना अधिक उचित है।

बौद्ध या परमवेदविद्

इत्सिङ् के अतिरिक्त अलबेरुनी भी भर्तृहरि को बौद्ध मानता है। इसी-लिए सात बार प्रव्रज्या की बात भी कही जाती है। दूसरी ओर, नाथ-परंपरा

के अनुयायी उन्हें अपना बताते हैं। कम-से-कम महावैयाकरण भर्तृहरि के संबंध में ये दोनों बातें ग़लत ठहरती हैं। यही बात **शतकत्रय** के कर्ता के **संबंध** में भी सत्य है। 'वाक्यपदीय' में 'श्रुति' और 'स्मृति' की तुलनात्मक चर्चा करते हुए उन्होंने 'श्रुति' को अनादि, अव्यवच्छिन्ना, अकर्तृका, सब स्मृतियों का उद्गम स्रोत एवं शब्दब्रह्म की वास्तविक अनुकृति माना है। 'स्मृति' को वे वेद एवं वेदोक्त लिंगों पर आधारित मानते हैं। उनके अनुसार 'आगम' होने के कारण 'श्रुति' कभी नष्ट नहीं होती, क्योंकि उसे फिर से उसी रूप में प्रकाशित एवं उपप्लवहीन चेतस् या आत्मा में फिर से पाया जा सकता है; किंतु 'स्मृति' मानवकृत होने के कारण कालांतर में नष्ट हो सकती है। पर फिर से नये मानव कर्ता उसकी रचना वेदोक्त लिंगों पर आधारित करके अवश्य कर सकते हैं। किंतु यह नयी स्मृति पहली 'स्मृति' से भिन्न होकर भी तत्त्वत: अभिन्न ही होती है। इसके विपरीत 'श्रुति' का पुन:-पुन: आविर्भाव अपने नित्य रूप में ही होता है। इसके अतिरिक्त अपनी 'महाभाष्यटीका' में भी **'अहः खल्वपि'** तथा **'चत्वारि'** आदि के अंतर्गत भर्तृहरि अपने वेदज्ञान का पूर्ण एवं निष्ठामय परिचय देते हैं।[3] यहां यह बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है कि भर्तृहरि ने अपने पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों में 'आगम' को सर्वोच्च प्रमाण माना है। 'आर्षज्ञान' को भी—'आप्तवचन' के रूप में—इसीलिए प्रमाण मानते हैं कि वह 'आगम-पूर्वक' या 'श्रुत्याधारित' होता है।[4] और सबसे बढ़कर तो यह कि शब्दों के 'साधुत्व निर्णय' का वे परम प्रामाणिक 'आधार' एकमात्र यही मानते हैं कि वे 'शिष्टों द्वारा आगम से ही सिद्ध रूप में प्राप्त करके व्यवहार में प्रयुक्त किये जाते हैं'।[5] और ऋग्वेद के मंत्र 'देवीं वाचमजनयन्त देवा:' को ही दोहराते हुए वे पूर्वोक्त दोनों ग्रंथों में कहते हैं 'इयं हि दैवी वाक् ···'[6] एवं 'दैवी वाग्व्यतिकीर्णेयम्'[7] इत्यादि। कदाचित् उन्हें परमवेदविद् सिद्ध करने के लिए यह कहना ही पर्याप्त है कि 'शब्दब्रह्म' एवं 'योग' का परम पक्षधर वेदविद् के अतिरिक्त कुछ अन्य हो ही नहीं सकता। और बौद्ध न होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वे अपने 'नीतिशतक', 'महाभाष्यटीका' एवं 'वाक्यपदीय' में समान रूप से 'दिक्', 'काल' एवं 'चेतना' को अनादि, अनवच्छिन्न एवं 'अनंत' बताते हैं। क्या इससे अधिक उनके वेदानुयायी होने का कोई और प्रमाण हो सकता है।

उनका **वेदविद्** होना अप्रत्यक्ष रूप से भी सिद्ध होता है। सर्वप्रथम तो शब्द को नित्य माननेवाला बौद्ध हो ही नहीं सकता। बौद्ध भाषाचिंतन में शब्दों की अर्थवत्ता जिस निषेधाधारित 'अपोहवाद' से सिद्ध की जाती है, भर्तृहरि ने उसका सर्वथा खंडन किया है। इसके विपरीत वे अपने संपूर्ण व्याकरण दर्शन का आधार न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग एवं मीमांसा (पूर्व

एवं उत्तर) नामक छहों वैदिक दर्शनों पर स्थापित करते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की, उनके प्रसंग में मीमांसा और वेदांत पर लिखी उनकी 'वृत्तियों' का उल्लेख भी मिलता है।

व्यक्तित्व : मूल्यांकन

इन पूर्वोक्त बातों को ध्यान में रखकर यदि हम उनके समग्र व्यक्तित्व पर विचार करें, तो आपातत: ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि उनका व्यक्तित्व बाहर से नाना विरोधों से भरा दीखता है, किंतु भीतर से वह अत्यंत एकरस, समन्वित एवं समग्र व्यक्तित्व के रूप में स्थित है। उनके व्याकरणदर्शन का विश्लेषण करने पर वे एक ओर परम लोकव्यवहारविद् एवं लोकपक्षधर दिखायी देते हैं, तो दूसरी ओर वे परम वेदविद्, परम दार्शनिक एवं परम योग-विद् दिखाई देते हैं। उनमें वैयाकरण की सिद्धांत-जटिलता भी है, योग की अंतर्निलीन वृत्ति भी; कवि का रसोद्भूत सारल्य भी है, दार्शनिक-सी गंभीरता तथा गद्यकार-सी प्रांजलता भी; और साथ ही है अध्यात्म एवं ब्रह्मचिंतन की गरिमा भी। गद्य और पद्य में उनकी समान गति है। श्रृंगार, लोकनीति एवं वैराग्य में उनकी एक-सी दृष्टि है। शैली एवं भाषा अत्यंत सरल एवं प्रवाहमय है। व्याकरण, दर्शन, वेद, योग एवं अध्यात्मचेतना में सदा लीन रहकर भी वे लोक के प्रति सदा सजग हैं। अत: आश्चर्य नहीं कि 'शब्द' को 'ब्रह्म' घोषित करनेवाला महावैयाकरण ही 'अपभ्रंश या असाधु' शब्दों की साधुता एवं नित्यता का भी सबसे बड़ा उद्घोषक बनकर सामने आया।

कृतियां

श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने विविध प्राचीन उल्लेखों के आधार पर निम्न नौ कृतियों को भर्तृहरिकृत बताकर केवल **प्रथम सात** को ही निर्विवाद रूप से उनकी प्रामाणिक कृतियां माना है। ये नौ कृतियां हैं :

(1) महाभाष्यटीका या त्रिपदी, (2) वाक्यपदीय (त्रिकांडी), (3) वाक्यपदीय के प्रथम दो कांडों पर स्वोपज्ञा वृत्ति, (4) शतकत्रय—नीति, श्रृंगार एवं वैराग्य, (5) मीमांसासूत्रवृत्ति, (6) वेदांतसूत्रवृत्ति, (7) शब्द-धातुसमीक्षा, (8) भागवृत्ति, एवं (9) भट्टिकाव्य।

इनमें आठवें ग्रंथ के उनके द्वारा रचित न होने का कारण यह है कि न तो इसकी भाषा ही भर्तृहरि की प्रकृति के अनुकूल एवं सरल है और न ही इसमें व्यक्त बहुत से समाधान भर्तृहरि के महाभाष्यटीकोक्त एवं वाक्यपदीयोक्त मतों से मिलते हैं। शेष सातों रचनाओं में से प्रथम चार तो किसी-न-किसी रूप में उपलब्ध हैं, जबकि संख्या 5 से 7 तक की पुस्तकों का उनके नाम से

केवल उल्लेखमात्र मिलता है। इनमें से किसी की भी न तो कोई प्रति ही अब तक प्रकाश में आयी है, न उनके उद्धरण ही कहीं उपलब्ध हुए हैं। वर्धमान के 'गणरत्नमहोदधि' एवं इत्सिङ् के कथनादि में भी उनका उल्लेख नहीं है। कैयट, भट्टोजि एवं कौण्डभट्टादि के उल्लेखों में भी कहीं इन तीन की चर्चा नहीं आती। इस पर भी वेदांत, मीमांसा एवं उनके व्याकरण दर्शन संबंधी मतों की समीक्षा के अवलोकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि निस्संदेह भर्तृहरि ऐसी किन्हीं कृतियों के कर्ता हो सकते हैं। जहां तक पहली चार पुस्तकों का उल्लेख है, 'महाभाष्यटीका' की विश्व भर में एक ही खंडित प्रति विद्यमान है, जो प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के सप्तम आह्निक के मध्य तक ही उपलब्ध होती है। लेखक का मत है कि निस्संदेह भर्तृहरि ने संपूर्ण महाभाष्य पर यह टीका रची होगी और अब भी इसके शेषांश किसी-न-किसी परिवार में दबे पड़े होंगे। इस प्रति की लिपि के मूल स्रोतों की पुनर्रचना के प्रयास में ही लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इसकी मूल प्रति निश्चय ही छठी शती ईसवी से पूर्व की रही होगी।

'वाक्यपदीय' तीन कांडों में निबद्ध रचना है। पूर्वोक्त टीका में भर्तृहरि महाभाष्य की उक्तियों पर ही टिप्पणी कर रहे थे, अतः उन्हें अपने मंतव्यों को न तो व्यक्त करने का अवकाश था और न ऐसा करना उचित ही था। इसीलिए भर्तृहरि ने उस प्रसंग में व्यक्त किये गये अपने संपूर्ण भाषाचिंतन एवं व्याकरण-दर्शन को स्वतंत्र रूप से पुनर्गठित करके पूर्ण स्वतंत्रता के साथ 'वाक्यपदीय' के तीन कांडों में निबद्ध किया। इनमें से केवल तृतीय कांड ही चौदह विविध समुद्देशों में विषयवैविध्य के कारण बंटा हुआ है। श्री युधिष्ठिर मीमांसक एवं श्री ऐयर ने भर्तृहरिरचित एक स्वोपज्ञा वृत्ति को भी स्वीकार किया है, जिसे उन्होंने प्रथम दो कांडों पर ही रचित माना है। यह वृत्ति प्रथम कांड पर तो पूर्ण रूप में उपलब्ध होती है, किंतु द्वितीय कांड पर यह अपूर्ण रूप में ही उपलब्ध है। पहले एक अन्य वैयाकरण वृषभदेव या हरिवृषभ की वृत्ति को ही स्वोपज्ञा वृत्ति माना जाता था। किंतु पं० चारुदेव शास्त्री ने सर्वप्रथम दोनों की पृथक् पहचान की ओर ध्यान आकर्षित किया।[8] जहां तक शतकत्रय का प्रश्न है, तीनों ही शतक भर्तृहरिकृत माने जाते हैं, यद्यपि उनके रचनाक्रम, विचारधारा एवं शैली आदि के संबंध में पर्याप्त मतभेद हैं।

इनमें से भी यदि अधिक छानबीन की जाये तो यह सिद्ध होता है कि भर्तृहरि के बाद के ग्रंथकारों एवं वैयाकरणों में जितनी लोकप्रियता 'वाक्यपदीय' को एवं साहित्यालोचकों में जितनी लोकप्रियता 'शतकत्रय' को प्राप्त हुई, उतनी 'स्वोपज्ञा' एवं 'महाभाष्यटीका' को नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि यद्यपि न्यासकार, कैयट, हरदत्त मिश्र एवं भट्टोजि भर्तृहरि की महा-

भाष्यटीका से न केवल परिचित एवं प्रभावित ही रहे हैं, बल्कि प्रथम तीन ने तो अधिकांशतः उनकी टीका का संक्षेप मात्र ही किया है। इस पर भी वे 'महाभाष्यटीका' का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते। इस पर भी यह सत्य है कि महाभाष्य के प्रणेता पतंजलि के साथ-साथ ही भर्तृहरि को 'महाभाष्यसेतु' का निर्माता माना गया है।[9] अतः यही कहना उचित है कि 'टीका' का प्रचलन केवल भाष्यपाठियों तक ही सीमित रहा होगा और कालांतर में रुक भी गया होगा जबकि 'वाक्यपदीय' का प्रचलन सभी वैयाकरणों और सभी संप्रदायों में समान रूप से समादृत रहा।

शतकत्रय वैयाकरण

प्रो० ऐयर ने अपने अंग्रेज़ी ग्रंथ 'भर्तृहरि' में महावैयाकरण भर्तृहरि को शतकत्रय का कर्ता मानना अस्वीकार किया है। यही बात अनेक विद्वानों ने भी कही है। अनेक विद्वानों ने श्रृंगार और वैराग्यशतक में आयी अनेक उक्तियों का संबंध नाथयोगी परंपरा एवं बौद्ध परंपरा में प्रचलित 'भरथरी' या 'भर्तृहरि' संबंधी कथाओं के साथ करना चाहा है। यह बात सातवीं शती के आरंभ में भी किंवदंती के रूप में प्रचलित हो चुकी थी। इत्सिङ् की उक्ति इसी बात को सिद्ध करती है। इत्सिङ् ने भी इसी बात को स्वीकार किया था। दूसरे उसकी त्रुटि यह रही कि उसने वैयाकरण और नाथयोगी व्यक्तियों को एकाकार कर दिया।

परंतु ऐसा उसने इसलिए किया कि उसके सामने प्रायः यही मत प्रमुख रूप में सामने आया कि वाक्यपदीय एवं शतकत्रय का कर्ता एक ही था। उधर वर्धमान आदि ने इस सत्य को न स्वीकार किया है और न ही इसका निषेध किया है।[10]

इस संबंध में दो बातों का ध्यान रखना आवश्यक है : **वैराग्यशतक** में ऐसी कोई भी बात नहीं है, जिससे इसे नाथ या बौद्ध परंपरा का सिद्ध किया जा सके। यही बात अन्य दोनों शतकों पर भी लागू होती है। उधर 'नीतिशतक' में कुछ बातें ऐसी सामने आयी हैं, जिन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय एवं महाभाष्यटीका में अंतर्गृहीत किया है। इन्हें हम क्रमशः इस प्रकार कह सकते हैं :

(1) **'ब्रह्म' एवं 'नित्यता'** : वाक्यपदीय की प्रथम कारिका में 'ब्रह्म' या 'शब्दब्रह्म' को अनादि, अनंत एवं अक्षर कहा गया है। ब्रह्म कहना ही उसे 'चित्' का परम रूप सिद्ध करता है, जिसे बाद की कारिकाओं में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है। 'नीतिशतक' की सर्वप्रथम कारिका में ही ब्रह्म को दिक् एवं काल से अनवच्छिन्न—अर्थात् अनंत एवं अनादि—तथा 'अनन्तचिन्मात्रमूर्ति' कहा है। वैसे तो ये दोनों ही कारिकाएं 'मंगलाचरण' के रूप में भी मानी

जा सकती हैं, यद्यपि वाक्यपदीय में इसी प्रथम कारिका से वक्तव्य विषय का भी आरंभ हो जाता है। अब यदि हम 'दिक्', 'काल' और 'चित्' की ही बात को लें, जो नीतिशतक की इस कारिका का प्रमुख अभिधेय है, तो 'वाक्यपदीय' की कारिकाओं में हम इन तीनों तत्त्वों की भरपूर चर्चा पाते हैं। 'दिक्' और 'काल' पर तो तृतीय कांड में दो अलग समुद्देश ही लिखे गये हैं, जबकि 'चित्', तज्जन्य 'ज्ञान' एवं 'वाक्' अथवा 'शब्द' की परस्पर अविच्छेद्य एकता को वे बार-बार घोषित करते हैं और 'चित्' के संबंध में तो वे बार-बार कहते हैं :

(क) चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते, आगमस्तमुपा०...।।[11]

(ख)...चैतन्यं सर्वजातिषु ।।[12]

(ग) चैतन्यवत्स्थिता लोके...।।[13] इत्यादि ।

अर्थात् वे चित् को न केवल अनंत सत्ता मानते हैं, बल्कि संपूर्ण ज्ञान का मूलाधार भी मानते हैं। वाक् के बिना वह तथा उसके बिना वाक् का होना संभव ही नहीं।

अतः ये दोनों कारिकाएं किसी एक ही दृढ़विश्वासी एवं एकनिष्ठ व्यक्ति की हो सकती हैं।

(2) नीतिशतक की अगली कुछ सूक्तियां अल्पज्ञ एवं विशेषज्ञ की सहज बोधकता को लेकर हैं। 'अज्ञ' और 'विशेषज्ञ' को भर्तृहरि एक ही कोटि में रखते हैं क्योंकि वे दोनों सरलता से सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, जबकि 'अल्पज्ञ' को समझना अति कठिन होता है। यही बात वाक्यपदीय में जगह-जगह आयी है : (क) चंडाल, पितृ-रक्षः, पिशाच आदि अज्ञतम व्यक्तियों एवं विज्ञतम ऋषियों के ज्ञान को 'कर्मज सिद्ध' एवं 'आगमसिद्ध' के रूप में एक ही समान घोषित करते हैं,[14] जबकि दूसरी ओर वे 'अशक्त प्रतिपत्ताओं' को समझाने के लिए बार-बार 'असत्य उपायों' के आश्रय की बात करते हैं। इसीलिए अज्ञतम लोगों की दृष्टि से 'प्रत्यक्ष' एवं विज्ञतम लोगों की दृष्टि से 'आगम' प्रमाणों को वे समकक्ष ही घोषित करते हैं। किंतु 'अल्पज्ञ' या 'दुर्विदग्ध' लोगों के आश्रयभूत 'अनुमान' का तो वे सर्वथा ही निषेध करते हैं, जबकि 'उपमान' को भी वे उतना महत्त्व नही देते।[15]

(3) जहां तक शतकत्रय में आये अपाणिनीय प्रयोगों की बात है, 'वाक्यपदीय' का कर्ता तो बार-बार यह घोषित करता है कि विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन के लिए 'अपभ्रंश' का प्रयोग भी उतना ही वैध है, जितना 'साधु' शब्दों का। और फिर तो वे यहां तक कह देते हैं : '**उभयेषामविच्छेदाद्**' अर्थात् साधु और असाधु शब्द दोनों ही लोकों के लिए व्यवहारोपयोगी हैं।[16]

(4) कम-से-कम एक उदाहरण ऐसा है, जो नीतिशतक में प्रथम बार प्रयुक्त हुआ है और जिसे भर्तृहरि फिर से अपनी महाभाष्यटीका में दोहराते

हैं : '**शशविषाणमासादयेत्**' (नीति०) एवं '**यश्च शशविषाणशब्दः**' (म० टी०—प्र० आ०)। ऐसे ही कुछ अन्य प्रसंग भी खोजे जा सकते हैं।

फिर इनके अतिरिक्त शैली की सरलता एवं एक-सी मोहकता को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि कम-से-कम 'नीतिशतक' का कर्ता एवं 'महावैयाकरण' भर्तृहरि एक ही हैं। अन्य दोनों शतकों की विवेचना से भी यही सिद्ध होता है कि उनका कर्ता जीवन से भागने या उसे झूठा करार देने की बात न करके जीवन के सही-सही उपयोग एवं उपभोग की वृत्ति रखता है। फिर, हर काव्य या काव्योक्ति केवल व्यक्ति-जीवन से ही अनुस्यूत नहीं होती। सच तो यह है कि 'वैराग्यशतक' एवं 'श्रृंगारशतक' की अपेक्षा 'नीतिशतक' की भाषा एवं शैली इतनी सरल और परिपक्व है कि वह उन दोनों की अपेक्षा बहुत परवर्ती रचना सिद्ध होती है। लगता है कि अपने यौवन के पूर्वार्द्ध में भर्तृहरि ने पहले दोनों शतक लिखे होंगे, जबकि उत्तरार्द्ध में उन्होंने नीतिशतक एवं अपने व्याकरणविषयक ग्रंथों की रचना की होगी।

महाभाष्यटीका

कैयट के 'महाभाष्यप्रदीप' के अध्ययन एवं विश्लेषण से पता चलता है कि उसे न केवल 'वाक्यपदीय' एवं 'महाभाष्यटीका' दोनों का ही पूरा परिचय था, बल्कि उसने उन दोनों का पूरा लाभ भी उठाया है। तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कैयट एवं महाभाष्य के अन्य अनेक परवर्ती टीकाकारों ने भर्तृहरि की 'महाभाष्यटीका' का अनुकरण संक्षेप मात्र ही किया है। स्वयं भर्तृहरि अपने वाक्यपदीय में 'भाष्य' की ओर बार-बार इंगित करते हैं। वे सब बातें महाभाष्य में उल्लिखित नहीं मिलतीं। यदि भर्तृहरि की टीका पूर्णतः उपलब्ध होती, तब उनका तथ्यांकन हो सकता था। दूसरी ओर, यदि उनकी टीका का विश्लेषण किया जाये, तो वाक्यपदीय का कोई भी अध्येता यह पायेगा कि पदे-पदे वाक्यपदीय के ही वक्तव्य गद्यात्मक ढंग से कहे गये हैं। हां, यह अवश्य है कि कहीं-कहीं शब्दावली वाक्यपदीय में प्रयुक्त शब्दावली से यत्किंचित् भिन्न है। पूर्ण विश्लेषण करने पर विद्वानों ने पाया है कि टीका की रचना निश्चय ही भर्तृहरि पहले ही कर चुके थे। उसके बाद ही उन्हें स्वतंत्र रूप से चिंतन की आवश्यकता अनुभव हुई।

रचनाक्रम निश्चय होने के बाद प्रश्न इसके नाम का आता है। ऑफ्रेख्ट ने इसे 'त्रिपादी' इस आधार पर कहा है कि वर्धमान ने भर्तृहरि को 'महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता' कहा था। एकाध विद्वान् ने इस 'त्रिपादी' नाम से यह अनुमान लगाया कि कदाचित् यह अष्टाध्यायी के अष्टमाध्याय के अंतिम तीन पादों पर लिखी गयी टीका होगी, क्योंकि 'त्रिपादी' नाम व्याकरणनिकाय

में उन्हीं तीन पादों के लिए प्रयुक्त होता है। पर अधिक संभव यह है कि किसी लिपिकार ने भ्रमवश 'त्रिपदी' को 'त्रिपादी' पढ़कर वैसा लिख दिया होगा। कारण यह कि **वाक्यपदीय** के प्रसिद्ध टीकाकार हेलाराज अपनी एक समाहारक कारिका में लिखते हैं : **'त्रैलोक्यगामिनी येन त्रिकांडी त्रिपदी कृता'।** इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि "जिसने अपनी 'त्रिपदी' को 'त्रिकांडी' बना दिया।" अर्थात्, भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यटीका में व्यक्त वक्तव्य को ही 'तीन कांडवाले वाक्यपदीय' के रूप में पुनर्गठित कर दिया। यहां यह अवधेय है कि हेलाराज अपनी टीका में जो बार-बार 'भाष्य' की चर्चा करते हैं, वह मात्र 'महाभाष्य' की ही चर्चा नहीं है, क्योंकि अनेक उद्धरण महाभाष्य में मिलते ही नहीं। इसके विपरीत जिन स्थलों की ओर वे इंगित करते हैं, उनमें से 'टीका' के उपलब्ध अंश में उपलब्ध स्थलों पर भर्तृहरि ने कुछ-न-कुछ नवीन एवं भिन्न बात कही है। अतः संभव है कि हेलाराज वहां दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हों।

हम आगे चलकर त्रिपदी एवं वाक्यपदीय के अनेक वक्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे और देखेंगे कि किस तरह एक ही बात को वे दोनों जगह ठीक उसी रूप में दोहरा रहे हैं।

वाक्यपदीय एवं स्वोपज्ञा वृत्ति

हमने पहले कहा है कि वाक्यपदीय निर्विवाद रूप से भर्तृहरि की कृति है। इसमें कुछ-एक कारिकाएं भले ही कम या अधिक रूप में किसी-किसी प्रति में पायी जाती हैं, या फिर कहीं-कहीं पाठ भ्रष्ट या विपरीत भी हो गया है, पर अन्यथा यह प्रामाणिक रूप से उनकी ही कृति है। वाक्यपदीय को हेलाराज 'त्रिकाण्डी' कहते हैं : तीन कांडों से बनी रचना। इस नाम का कारण बताते हुए काशिकाकार के अनुसरण पर कहा जा सकता है : 'वाक्यं च पदं च अधिकृत्य कृतो ग्रंथः' अर्थात् 'वाक्य और पद पर विचार करनेवाला ग्रंथ'। किंतु लेखक ने यहां 'वाक्य' शब्द को 'एकशेष द्वंद्व' का प्रतिरूप मानते हुए इसकी व्याख्या इस रूप में की है : 'वाक्, वाक्य एवं पद पर विचार करने वाला ग्रंथ'।[17] यह तथ्य इस बात से भी पुष्ट होता है कि इसके प्रथम कांड में केवल 'वाक्' से संबद्ध विविध प्रश्नों पर ही विचार किया गया है। द्वितीय कांड का मुख्य विचारणीय विषय 'वाक्य' एवं 'वाक्यार्थ' रहे हैं। इस प्रकार आज से पांच-छह दशक पहले तक जिसे 'भाषाविज्ञान' समझा जाता था, उसका संपूर्ण विषय पहले दो कांडों में समा जाता है।

इनमें से **प्रथम कांड** को स्वयं भर्तृहरि 'आगम काण्ड' कहते हैं। दोनों कांडों को मिलाकर उन्होंने 'आगमसंग्रह' कहा है।[18] किंतु शब्दब्रह्म का उद्घोषक

होने के कारण व्याख्याकारों एवं टीकाकारों ने इसे 'ब्रह्मकाण्ड' नाम दिया है। वास्तव में इस कांड में शब्दब्रह्म, व्याकरण का महत्त्व, प्रमाणचतुष्टय, शब्द और अर्थ का संबंध, शब्द का स्वरूप, ध्वनि और स्फोट का स्वरूप एवं संबंध, वाक् की अभिव्यक्ति एवं उसके विविध चरण, साधु-असाधु शब्द, व्याकरण का क्षेत्र, दैवी और प्राकृत वाक्, वाक् का महत्त्व एवं अपभ्रंश शब्दों की वास्तविकता, आदि विषयों पर विस्तार से विचार किया गया है।

'द्वितीय कांड' का मुख्य विचारणीय विषय 'वाक्य' होने से, इसमें वाक्य के संबंध में उस समय तक स्थापित विविध धारणाओं, पद और वाक्य द्वारा अर्थाभिव्यक्ति, मुख्य एवं गौण अर्थ, शब्दशक्ति की उपयोगिता, वाक्य की परिभाषा एवं स्वरूप, आदि पर विस्तार से विचार किया गया है।

इस प्रकार प्रथम दो कांडों में प्रायः 'वाक्' से संबद्ध सभी पक्ष गृहीत हो गये हैं। किंतु **'तृतीय कांड'** का वक्तव्य विषय उनसे कहीं अधिक व्यापक है। आज तो यह पूरा विषय भी 'भाषाविज्ञान' या 'व्याकरण' की सीमाओं के ही अंतर्गत गिना जाता है, परंतु कभी उसे 'व्याकरण-दर्शन' का विषय कहकर अलग माना जाता था। भर्तृहरि के टीकाकारों ने इसे 'पदकाण्ड' नाम दिया है, जबकि कुछ अन्यों ने इसे 'प्रकीर्णक' नाम दिया है। कारण यह कि इसमें पूर्वोक्त दोनों कांडों के वक्तव्य विषय से अवांतर रूप में संबद्ध सभी प्रकीर्ण विषयों का समावेश हो गया है। **इत्सिङ्** इसी नाम से परिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसे 'पे-इन' नाम से एक स्वतंत्र कृति के रूप में स्वीकार किया। वास्तव में उन्हें यह धारणा अपने समकालीन विद्वानों से ही प्राप्त हुई, जिनमें से कुछ केवल 'द्वितीय काण्ड' को ही 'वाक्यपदीय' नाम से अभिहित करते थे, जबकि वे प्रथम कांड को 'आगमकाण्ड' या 'ब्रह्मकाण्ड' के रूप में एक स्वतंत्र रचना मानते थे और 'पदकाण्ड' को 'प्रकीर्णक' के नाम से एक पृथक् रचना मानते थे। किंतु परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि तीनों ही कांडों के विषय एवं उनमें व्यक्त धारणाएं एक-दूसरे से गुंथी हुई एवं संबद्ध ही नहीं हैं, बल्कि एक ही से शब्दों में एक ही धारणा को यथावश्यक रूप से विविध स्थलों पर दोहराया भी गया है। अतः इसे किसी की स्वतंत्र रचना कहना सर्वथा असंगत लगता है। इस कांड को व्याकरण-दर्शन के विचारणीय विषयों के अनुसार चौदह समुद्देशों या प्रकरणों में विभक्त किया है। नाम की दृष्टि से प्रत्येक समुद्देश का नामकरण उसके वक्तव्य विषय के आधार पर किया गया है। केवल द्वितीय और चतुर्थ समुद्देश का नाम एक ही सा लगता है : 'द्रव्यसमुद्देश' एवं 'भूयोद्रव्यसमुद्देश'। किंतु दोनों का वक्तव्य विषय इतना भिन्न है कि उन दोनों का आपस में कोई संबंध ही नहीं बैठता। ऐसा लगता है कि या तो चतुर्थ और पंचम समुद्देश कभी एक साथ ही लिखे गये होंगे, या फिर चतुर्थ समुद्देश 'नाम और सर्वनाम' को आधा-

रित करके लिखा गया होगा, जिसके कुछ मूल अंश आज विस्मृत हो गये हैं। यदि हम इनमें से पहली संभावना को स्वीकार करें, तो भर्तृहरि की यह मूल धारणा इसका कारण होगी कि 'नाम, सर्वनाम और विशेषण' मूलतः आकृति एवं कार्य की दृष्टि से एक-दूसरे से अपृथक् कहे जा सकते हैं। किंतु, यदि हम इन्हें अलग मानते हैं, तो उसका आधार केवल इतना ही रहता है कि इस प्रकार समुद्देशों की संख्या केवल 'तेरह' रह जायेगी, न कि 'चौदह'। इस संबंध में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पुण्यराज एवं हेलाराज की साक्षी पर यह कहा जा सकता है कि मूलतः 'लक्षण और बाधा' नाम के दो या एक समुद्देश इसमें पृथक् से भी थे, जो संप्रति अनुपलब्ध है। इनकी अनुपलब्धि का सबसे बुरा परिणाम यह हुआ है कि 'शब्दशक्तियों' के संबंध में भर्तृहरि की जो उक्तियां एवं धारणाएं अन्यत्र विकीर्ण रूप में उपलब्ध होती हैं, उनका एकत्र समन्वय इन्हीं समुद्देशों में संभावित होने से हम उनसे वंचित रह गये हैं।

इन तेरह या चौदह समुद्देशों में जिन विषयों की चर्चा की गयी है, उन्हें मूलतः दर्शन के ही विषय कहा जा सकता है। इन्हें हम क्रमशः इस प्रकार गिना सकते हैं : जाति, द्रव्य (व्यक्ति), संबंध एवं समवाय, द्रव्य, गुण, साधन या कारक, दिक्, काल, क्रिया, संख्या, उपग्रह, पुरुष, लिंग एवं वृत्ति। इन सभी तत्त्वों का प्रयोग व्याकरण के अंतर्गत होनेवाले पद-विचार के प्रसंग में विविध रूप में होता है। हम इन्हें दर्शनों के क्रम से भी मीमांसा, वैशेषिक, न्याय 'सांख्य' आदि की दृष्टि से भी बांट सकते हैं। किंतु भर्तृहरि जब इन्हें वर्णित करते हैं, तब वे इन सभी दर्शनों में एक समन्वय-सा स्थापित कर देते हैं। जो विषय देखने में वैशेषिक का प्रतीत होता है, उसे वे सांख्य एवं मीमांसा से भी सम्पुष्ट करते हैं। उनकी यह समन्वयात्मक वृत्ति उनके व्याकरण-दर्शन को सर्वाधिक आकर्षक एवं व्यावहारिक बना देती है।

इस प्रकार भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' को वाग्विज्ञान एवं व्याकरण-दर्शन की एक अभूतपूर्व कृति कहा जा सकता है। इसमें कारिका संख्या कांड-क्रम से क्रमशः 156, 487 एवं 1323 है। इस प्रकार कुल कारिका संख्या 1966 बैठती है।

स्वोपज्ञा वृत्ति

टीकाओं के दृष्टिकोण से प्रथम कांड पर पुण्यराज और वृषभदेव की दो टीकाएं, द्वितीय कांड पर केवल पुण्यराज की, तथा तृतीय कांड पर केवल हेलाराज की टीका उपलब्ध होती है। किंतु प्रथम दो कांडों पर भर्तृहरि के नाम से एक अन्य टीका का परिचय मिला है। स्वरचित होने से ही इसे 'स्वोपज्ञा वृत्ति' कहा गया है। इस वृत्ति एवं हरिवृषभ या वृषभदेव की 'पद्धति' में

व्याख्या एवं पहुंच का पर्याप्त अंतर है। वृषभदेव अनेक स्थानों पर भर्तृहरि की भावना के विपरीत गये हैं। किंतु भर्तृहरि की स्वोपज्ञा वृत्ति भी अनेकत्र उनकी अपनी ही भावनाओं को स्पष्ट नहीं कर पायी है, जबकि स्वयं वाक्यपदीय में ही अन्यत्र वे अपनी उन्हीं भावनाओं को पुनरावृत्ति के रूप में अधिक स्पष्ट कर देते हैं।

महाभाष्यटीका एवं वाक्यपदीय में व्यक्त कुछ समान चमत्कारिक धारणाएं

(क) **शब्द के दो पक्ष** : टीका में भर्तृहरि कहते हैं : 'अथवा द्वौ भागौ शब्दस्य—स्वरूपभागो अर्थभागश्च'।[19] इसे ही वे वाक्यपदीय में कहते हैं : 'अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रतीयते'।[20] अंतर यह है कि टीका में वे केवल 'शब्दात्मा' के दो पक्षों या रूपों की चर्चा उस प्रसंग में कर रहे हैं, अतः वहां उदाहरणादि देकर स्पष्ट करने का अवकाश नहीं है। वाक्यपदीय में क्योंकि वे स्वतंत्र विचार कर रहे हैं, अतः वहां उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि "जिस तरह ज्ञान में ज्ञेय और ज्ञान अविच्छिन्न रूप से दो पक्षों के रूप में संबद्ध रहते हैं, उसी तरह 'शब्द' में भी 'उसका स्वरूप' तथा 'अर्थरूप' एक-दूसरे से अविच्छेद्य रूप में स्थित रहते हैं।"

(ख) **शब्द की आत्मा स्फोट है** : त्रिपदी में एक बहुत व्यापक वक्तव्य को अत्यंत संक्षेप में कहते हैं : **'अध्वनिकः स्फोटः'**···**एतच्च अर्थस्वरूपं स्फोटः, अयमेव शब्दात्मा नित्या'**।[21] तथा **'उक्तं च स्फोटः शब्दो, ध्वनिस्तस्य व्यायामादुपजायसे, इति।···उच्यते द्रव्यादयो न भवन्ति शब्दाः, इति। एवंपरायां चोदनायां ध्वनि-शब्दयोरन्यत्वे प्रयोजनाभावादेकत्वेन व्यपदेशः'**।[22] अन्यत्र वे कहते हैं : **'अथवा स्फोटो ध्वनिश्च (द्वौ शब्दात्मानौ)'**।[23] वाक्यपदीय में वे क्रमशः इन्हीं बातों को इन रूपों में कहते हैं : **'स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते'**।[24]···**'शब्दस्योर्ध्वम-भिव्यक्तेः'**[25]···**'स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते'**[26]···**'स्फोटादेवोपजायन्ते ज्वाला ज्वाला-न्तरादिव'**[27]···**'स स्फोटः शब्दजाः शब्दाः'**[28]···**'द्वावुपादानशब्देषु···एको निमित्तं शब्दानामपरोर्थे प्रयुज्यते'**।[29]···एवं **'अनेकव्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता'**।[30] इन सभी वक्तव्यों में जो बात प्रमुखता से कही गयी है, वह यह है कि ध्वनि और स्फोट दोनों ही प्रत्यक्षतः शब्द का क्रमशः आविर्भाव एवं ग्रहण करते-कराते दिखायी देते हैं, किंतु ध्वनि स्वयं एक क्षणिक माध्यम है, जिसके उच्चारण में कालादि की समस्या आ जाती है। वास्तव में तो शब्द वह है, जिसे ध्वनि प्रकट करती है। अब क्योंकि ध्वनि आदि के माध्यम से आविर्भूत यह शब्द अपने अर्थात्मा के रूप में जिस अभिन्नकाल एवं सक्षण प्रतीति के रूप में उपलब्ध होता है, तथा जिस रूप में वह बुद्धि में नित्य रूप में स्थित होने पर

भी वक्ता की इच्छा के समय सामने आता है, उस अविभक्त शब्दरूप या उसकी प्रतीति को **स्फोट** कहा गया है। इसे ही **'शब्दप्रतिभा'** भी कहा गया है। अतः प्रतिभात्मा स्फोट ही शब्द कहा जा सकता है। क्योंकि ध्वनि इसी शब्द को प्रकट करती है, अतः ध्वनि का अपना कोई पृथक् अस्तित्व या प्रयोजन न होने से ध्वनि को ही शब्द भी कह दिया जाए, तो कोई दोष नहीं। वास्तव में ध्वनि शब्द की बाह्य प्रतीति कराती है, जबकि शब्द का अपना स्वरूप यह 'अर्थरूप स्फोट' ही है। यदि स्फोट के रूप में ग्रहण न हो, तो कोई भी शब्द 'शब्द' न कहलाकर केवल 'ध्वनि' या 'शोर' ही कहा जायेगा। 'स्फोट' अविभक्त होने पर भी इसका परवर्ती विस्तार ही 'अर्थ' कहलाता है, जिसमें शब्द से प्रतीयमान सभी बातें एक-एक करके विस्तार से सामने आती हैं। किंतु स्फोट के रूप में आदिग्रहण इन विस्तारों से रहित एक सक्षण एवं अविभाज्य स्फोटात्मक प्रतीति के रूप में ही होता है।

(ग) **आगम, श्रुति और स्मृति :** टीका में भर्तृहरि ने अत्यंत संक्षेप से कहा है : **'पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः। श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः'**।[31] परंपरा, अविच्छिन्नता एवं उपदेश की बात को ही वाक्यपदीय में अत्यधिक विस्तार के साथ उन्होंने बताया है। टीका का लक्षण श्रुति और स्मृति दोनों पर घट सकता है, यद्यपि वाक्यपदीय में उन्होंने इस बात को विस्तार से कहकर उन दोनों में भेद को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार आगम भी चैतन्य की भांति नित्य एवं अविच्छिन्न है : **'चैतन्यमिव यश्चायमविच्छेदेन वर्तते, आगमः…'**।[32] श्रुति को वे अनादि, अव्यवच्छिन्ना, अकर्तृका, आदि मानते हैं : **'अनादिमव्यवच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्'**।[33] एवं स्मृति को इसके विपरीत वेदों या श्रुति के भावतत्त्व पर या लिंगों पर आश्रित एवं शिष्टों द्वारा निबद्ध मानते हैं। प्रश्न उठता है कि तब टीका में दोनों को अव्यवच्छिन्न क्यों कहा ? इसका उत्तर भर्तृहरि वाक्यपदीय में यह कहकर देते हैं : 'श्रुति और आगम तो अकर्तृक होने से पुनः-पुनः उसी रूप में आविर्भूत एवं प्रकाशित हो सकते हैं, और इसीलिए अविच्छिन्न रूप से उसी रूप में रहते हैं, किंतु सकर्तृक होने से स्मृति कर्ताओं के न रहने या कालांतर में किसी कारणवश नष्ट हो जाने से यद्यपि अपने एक रूप में नष्ट हो जाती है, इस पर भी नये-नये कर्ता उसे उसी अविच्छिन्न आगम या श्रुति में परिज्ञात लक्षणों के आधार पर फिर से निर्मित कर लेते हैं।[34] अतः स्मृति भले ही एक विशिष्ट व्यक्ति द्वारा रचित रूप में नष्ट हो जाये, भावतत्त्व के रूप में नया कर्ता उन्हीं बातों को फिर से निबद्ध करके स्मृति-परंपरा को अविच्छिन्न बनाये रखता है'।[35]

(घ) **व्याकरण : वेदज्ञान का एकमात्र उपाय :** महाभाष्योक्त वेदज्ञानार्थ 'लघुतम उपाय' के रूप में व्याकरण की महत्ता को समझते हुए भर्तृहरि कहते

हैं : **'अन्य उपाय एव न संभवति'**।[36] वाक्यपदीय में इसे ही 'आंजस मार्ग' कहते हैं।[37] जहां तक वेदज्ञान का संबंध है, भर्तृहरि वाक्यपदीय में इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं : **'छन्दसां प्रथममंगम्'**[38], **तद्व्याकरणमागम्य पर ब्रह्माधिगम्यते'**[39], **'तस्माद्यः शब्दसंस्कारः, सा सिद्धिः परमात्मनः'**[40] आदि के रूप में कहते हैं।

(ङ) **भाषा-विकास के दो मत :** 'अन्ये तु मन्यन्ते, य एवैते प्राकृताः **शब्दास्त एवैते नित्याः। प्रकृतौ भवाः प्राकृताः। अन्ये मन्यन्ते, इयं दैवी वाक्। सा तु पुरुषाशक्तेरालस्याद् वा प्रकीर्णा। यथाम्बाम्बेति शिक्षमाणो बालोन्यथा उच्चारयति…'**।[41] इन्हीं भावों को ठीक इन्हीं शब्दों में वे वाक्यपदीय में दोहराते हैं : **'दैवी वाग् व्यतिकीर्णेयमशक्तैरभिधातृभिः। अनित्यदर्शिनां त्वस्मिन् वादे बुद्धिविपर्ययः'**।[42] तथा **'अम्बाम्बेति यथा बालो शिक्षमाणोपभाषते'**।[43] इत्यादि। भाषा अपने स्वाभाविक क्रम से मानव के आगमन के बाद जन्म लेती है, या वह दैवीय देन या शाश्वत ज्ञान के रूप में वेदादि के माध्यम से हमें प्राप्त हाती है, इस प्रकार के दो मत अब तक भाषावैज्ञानिकों के समक्ष विवाद का विषय रहे हैं। अब तो चेतनाविज्ञान के विकास के साथ-साथ चेतना, ज्ञान, एवं वाक् का परस्पर अविच्छेद्य एवं शाश्वत संबंध फिर से चर्चा का विषय बन चुका है।

(च) **अपभ्रंश या अपशब्द :** साधु-असाधु शब्दों की चर्चा आरंभ से ही भाषा चिंतन का प्रमुख विषय रही है। अपनी टीका एवं वाक्यपदीय में भर्तृहरि ने इस संबंध में खूब खुलकर विचार किया है। उनके कुछ तुलनात्मक वक्तव्य इस प्रकार हैं : (1) अर्थप्रत्यायन की दृष्टि से साधु एवं अपभ्रंश शब्द समान रूप से समर्थ होते हैं : **'एवमर्थ प्रत्यायनं प्रति शब्दापशब्दयोः प्रवृत्तौ सत्यां…'** (टीका)[44], एवं **'अर्थप्रत्यायनाभेदे विपरीतास्त्वसाधवः…** (वाक्य०)'[45]। (2) अपभ्रंश शब्दों में अर्थ का ज्ञान इस दृष्टि से आनुमानिक होता है कि उनका अनुमान साधु शब्द के अर्थ को देखकर किया जाता है : **'अपभ्रंशा ये ते अर्थस्य प्रत्यायका न भवन्ति। अथवापशब्देषूपदिश्यमानेषु आनुमानिकी प्रतिपत्तिः** (टीका)[46], एवं **'ते साधुष्वनुमानने प्रत्ययोत्पत्तिहेतवः** (वाक्य०)'[47]। (3) अपभ्रंश शब्द अपने मूल साधु शब्द से भिन्न अर्थ को व्यक्त करते हैं, इसीलिए अर्थ-प्रत्यायन में वे भी साधुवत् ही होते हैं : **'इहाप्यपशब्दोपदेशेन गव्यादिभ्यश्चान्यः शब्दो गौरिति प्रतिपद्यते** एवं **यथा गोणीशब्दः सास्नादिमतिरसाधुरित्यादिः'**[48] (टीका)' तथा **'शब्द संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते…'**, **'अस्वगोण्यादयः शब्दा…'** **'नसोऽर्थस्याभिधायकः'**, एवं **'तस्मात्साक्षादवाचकाः'**[49] इत्यादि (वाक्य०)। (4) अपभ्रंश शब्द भी साधु शब्दों की भांति अविच्छेद्य एवं नित्य होते हैं यद्यपि उनकी नित्यता व्यवहार की दृष्टि से मानी जा सकती है,

जबकि साधु शब्द परामर्श एवं धर्मसाधन की दृष्टि से नित्य होते हैं : **'प्रयोगे नित्यत्वं वैदिकानाम्, अनित्यता लौकाकानामिति ।'''व्यवहारनित्यतैवेहोपकारिणी'** (टीका)[50], एवं **'शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्'** एवं उभयेषामविच्छेदाद्'''' इत्यादि (वाक्य०)[51]। (5) आगमसिद्ध न होने के कारण ही अपभ्रंश शब्दों को असाधु कहा जाता है और वे धर्म के साधन नहीं बन पाते : **'य एवासौ वेदस्तस्यैव व्याकरणानुगतस्य यदि संशब्दनम्, अप्येतदभ्युदयायेति'''''यस्मिन्नर्थे आसेव्यमाने धर्मस्तस्माद् यो विपरीतस्तदासेवाया विपरीतेन फलेन भवितव्यम्'''** (टीका)[52] एवं **'शिष्टेभ्य आगमात्सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्, विपरीतास्त्वसाधवः ।'** (वाक्य०)[53] ।

(छ) **नित्यता अनित्यता** : 'नित्यता' या 'सत्ता' दो प्रकार की होती है : परमार्थाश्रित एवं व्यवहाराश्रित। टीका में वे कहते हैं : **'नित्यता चापि द्विविधा —परमार्थाश्रया व्यवहाराश्रया च'** ।[54] इसे ही वाक्यपदीय के तृतीय कांड में 'सत्ता' के प्रसंग में कहते हैं : **'सा सत्ता परमार्थिकी'**'''इत्यादि ।[45] अनित्यता को भी उन्होंने तीन प्रकार का माना है : संसर्ग, विपरिणाम एवं 'वस्तुविराम' से संभूत अनित्यता के रूप में ।

(ज) **सत्ता के दो प्रकार** : टीका में वे दो प्रकार की सत्ता प्रत्यक्ष एवं अनुमान पर आश्रित भेद से मानते हैं : **'द्विधा सत्ता, प्रत्यक्षा चानुमानिकी च ।'**[56] वाक्यपदीय में वे प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त उपचार एवं प्रतिचार के आधार पर सत्ता के दो अन्य भेद भी मानते हैं। भाष्य में वर्णित 'सम्प्रति-सत्ता' का भी संकेत उन्होंने इनसे पृथक् रूप में दिया है ।[57]

(झ) **सम्बन्ध के प्रकार** : शब्द और अर्थ में संबंध दो आधार पर वर्णित किया जा सकता है : 'कार्यकारणभाव' के आधार पर एवं योग्यता के आधार पर। **'संबंधो नियता योग्यता'''अथवा कार्यकारणलक्षणः संबंधः** (टीका)'[58]। वाक्यपदीय में वे कहते हैं : **'कार्यकारणभावेन योग्यभावेन च स्थिताः'**[59]''' आदि ।

(ञ) **प्राकृत-वैकृत ध्वनियां** : टीका में ध्वनि के इन दो भेदों को वे इस प्रकार कहते हैं। **'केचित् प्राकृताः, केचिद् वैकृताः । यः करणसन्निपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्रकृतौ । यस्तु ध्वनेर्ध्वनिस्त्पद्यते सः वैकृतः'** ।[60] वाक्यपदीय में इसे ही वे तीन-चार कारिकाओं में कहते हैं : **'प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते'''''निमित्तैर्विकृतो ध्वनिः ।'''''शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृताः'''''स्थितिभेदं निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते'**[61], इत्यादि ।

इस प्रकार का शब्द-विचार-अभिव्यक्ति-साम्य त्रिपदी के उपलब्धांश एवं वाक्यपदीय में सर्वत्र विकीर्ण मिलता है ।

दोनों में उपलब्ध कुछ अज्ञात तथ्य

यहां इस बात पर भी किंचित् प्रकाश डालना उचित होगा कि भर्तृहरि ने अपने व्याकरण-ग्रंथों में कितने ही ऐसे तथ्यों को उद्घाटित किया है, जिन्हें हम उनकी कृतियों के अभाव में कदाचित् जान ही न पाते। हम यहां उनमें से कुछ प्रमुखतम सत्यों का ही उल्लेख करेंगे ।

(1) **औदुम्बरायण का मत** : निरुक्तकार ने **'इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः'** कहा तो सही, पर उनकी यह उक्ति परवर्ती टीकाकारों या लिपिकारों के प्रमाद के कारण अधूरी एवं विच्छिन्न हो गयी। कारण यह कि इसका अविच्छिन्न अंगभूत यह उक्ति अगले खंड में डाल देने के कारण उससे पृथक् समझी गयी : **'तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते ।'**[62] वास्तव में निरुक्त के व्याख्याकार दुर्गाचार्य ने इस त्रुटि को पकड़ लिया था। इसीलिए उन्होंने प्रथम अंश को प्रथम खंड में पढ़कर भी उसका आशय द्वितीय खंड में इस परवर्ती अंश के सान्निध्य में ही स्पष्ट किया। किंतु अन्य टीकाकार इस रहस्य को न समझ पाने के कारण अर्थ का अनर्थ ही करते रहे और उनमें से कुछ ने तो औदुम्बरायण को शब्द के अनित्यत्व का पोषक कह दिया। यदि इन आलोचकों और टीकाकारों ने पिछले डेढ़ हजार वर्ष से विद्यमान वाक्यपदीय को ध्यान से पढ़ा होता, तो उन्हें यह रहस्य समझ में आ जाता कि क्यों औदुम्बरायण को पदमंजरीकार हरदत्त मिश्र ने 'स्फोट का प्रथम उद्घोषक' (स्फोटायन) एवं 'शब्दनित्यता का परम उद्घोषक' कहा ? भर्तृहरि का इस विषय में कथन निर्भ्रांत है : "क्योंकि वाक्य की एकता बुद्धि से ही जन्म लेती है (इसीलिए वह बुद्धिनित्य होता है), और उस नित्यता का हेतु है अर्थ का उसके साथ अनवच्छिन्न एवं शाश्वत संबंध, अतः 'वाक्य' ही अंतिम रूप से अविभाज्य इकाई है, न कि 'चार पद' आदि के रूप में विभाज्य उसके कोई छोटे अंश। इसी बात को देखकर वार्ताक्ष और औदुम्बरायण नाम के आचार्यों ने पदभेद या 'चार पद' के अस्तित्व को मानने से इनकार कर दिया।" जो विद्वान् बुद्धि में वाक्य की एकता को नित्य मानने के कारण वाक्य को पदों में विभक्त मानने, एवं इसीलिए उन पर पृथक् से विचार करने से इनकार करता है, उसे ही शब्दनित्यता का महानतम उद्घोषक कहने के स्थान पर 'अनित्यतावादी' कहना अपनी अल्पज्ञता का कितना बड़ा प्रमाण देना है। वाक्यपदीय के अभाव में हम इस सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ रह जाते कि औदुम्बरायण के अतिरिक्त इस मत को वार्ताक्ष नामक आचार्य ने भी बड़े बलपूर्वक उठाया था ।[63]

(2) **'संग्रह' ग्रंथ के संबंध में** : पतंजलि की अपेक्षा भर्तृहरि 'संग्रह' की चर्चा अपने दोनों ग्रंथों में इस प्रकार करते हैं, जिसमें हमें पर्याप्त नयी सूचनाएं

मिलती हैं। महाभाष्य से तो हमें संग्रह के आकार एवं उसके कुछ विशिष्ट विचारणीय विषयों का ही भान मिलता है, जबकि वाक्यपदीय एवं महाभाष्य-टीका में भर्तृहरि ने कुछ सर्वथा अछूती बातें कही हैं। उनका सर्वप्रधान कथन यह है कि 'अत्यधिक व्यापकता के कारण अल्पधी एवं संक्षेपप्रिय आलोचकों की उपेक्षा से 'संग्रह' का लगभग लोप ही हो गया। तब महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ने उसमें वर्णित प्राय: सभी विषयों को संगृहीत करते हुए अपने ग्रंथ को सम्पुष्ट किया। इसीलिए महाभाष्य को वे 'संग्रहप्रतिकुंचक' भी कहते हैं।[64] इसका स्पष्ट आशय यह है कि भले ही पतंजलि के काल तक 'संग्रह' किसी-न-किसी रूप में बचा रहा होगा, किंतु उसका पठन-पाठन एवं प्रचलन सर्वथा बंद हो गया था। एक जगह वे संग्रह के कर्ता व्याडि के नाम से **'शब्दप्रकृतिरपभ्रंश:'** कहकर उन्हें लोकभाषा का प्रबल समर्थक एवं 'अपभ्रंश' की सामान्य धारणा का विरोधी बताते हैं। अन्यत्र वे वास्प्यायन एवं व्याडि के मतों को एक-दूसरे के विपरीत उपस्थित करते हैं: **वाजप्यायनस्वाकृतिर्व्याडिस्तु द्रव्यम्'** आदि।[65] सबसे बढ़कर यह कि उनके अनुसार संग्रह में वर्णित विविध विषयों की संख्या 'चतुर्दशसहस्र' रही होगी: **'चतुर्दशसहस्राणि वस्तुन्यस्मिन् संग्रहे परीक्षितानि।'**[66] वाक्यपदीय में भी अनेकत्र ऐसा लगता है कि व्याडि की मूल कारिकाओं को यथावत् अपना लिया गया है: **'संबंधस्य न कर्तास्ति'**[67] इत्यादि।

(3) **शिक्षाग्रंथों के संबंध में**: आजकल शिक्षा के जो अनेक ग्रंथ सामने आते हैं, उनमें से अधिकांश को बहुत अर्वाचीन माना गया है। पाणिनि की अपनी शिक्षा के भी विषय में संदेह उपस्थित है। उनकी शिक्षा के दो रूप सामने आये हैं: सूत्ररूप एवं कारिकारूप। एक ओर डा० मनमोहन घोष जैसे विद्वान् कारिकारूप शिक्षा को प्रामाणिक मानते हैं (यद्यपि ऐसे विद्वानों में भी कारिकाओं की संख्या के विषय में मतभेद है), तो दूसरी ओर दयानंद, डॉ० रघुवीर एवं युधिष्ठिर मीमांसक जैसे विद्वान् हैं, जो सूत्ररूपा शिक्षा को प्रामाणिक मानते हैं। 'टीका' में पाणिनि के नाम से **'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान्...'** कारिका को यथावत् उद्धृत किया गया है, तथा **'एव शिक्षाकारा: प्रतिपन्ना... शिक्षाभेदा, इत्येत्प्रतिपद्यते'**[68] के द्वारा इस बात को सूचित किया गया है कि स्वयं भर्तृहरि के समय तक अनेकानेक शिक्षाग्रंथ उपलब्ध थे। इसीलिए आज जब उपलब्ध शिक्षाओं में से कुछ को पाणिनिपूर्व का स्वीकार किया जाता है, तब हमें इस बात पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए क्योंकि भर्तृहरि अनेक पाणिनिपूर्व शिक्षाकारों के मतों को भी उद्धृत करते हैं।

(4) **व्यक्तित्व-निर्णय**: वार्तिकों एवं श्लोकवार्तिकों का कर्ता प्राय: कात्यायन को ही स्वीकार किया जाता है, तथा 'वाक्यकार' और 'वार्तिककार' के रूप में एक ही व्यक्ति की पहचान की जाती है। किंतु टीका में भर्तृहरि

की एक उक्ति ही उनका अभिमत स्पष्ट कर देती है। **'यदेवोक्तं वाक्यकारेण ...तदेव श्लोकवार्तिककारोप्या।'**[69] इससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में ये दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे।

(5) **भर्तृहरि से पहले की वृत्तियां**: प्राय: ही 'काशिका' के विषय में उसकी भर्तृहरि से पूर्वापरता का प्रश्न सामने आता है। कुछ लोग उन्हें सम-कालिक भी मानते हैं। अनेक विद्वानों ने काशिका को 'अष्टाध्यायी' की महा-भाष्य के बाद लिखी गयी प्रथम एवं प्रधान वृत्ति स्वीकार किया है। किंतु भर्तृ-हरि जिस प्रकार से वृत्तियों की बहुसंख्यकता बताते हैं, वह अवलोकनीय है: **'अतो वृत्तिकारो व्याचष्टे।...अपर एवमाह...अयमेव चार्थो वृत्तिकारै: प्रदर्शित:।'** भाष्यों एवं भाष्यकारों के संबंध में भी यही बात है: **भाष्यकारो निमित्तग्रहपूर्वं कर्तव्यनिति प्रतिपन्न:। अन्ये तु...'**[70] इत्यादि। अब यदि वाक्य-पदीय में देखें तो भर्तृहरि सूत्रकारों, वृत्तिकारों एवं भाष्यकारों को बहुसंख्यक ही मानते हैं, क्योंकि वे इन सभी प्रकारों के ग्रंथों को बहुसंख्यक मानते हैं: **'सूत्राणां सानुतंत्राणां भाष्यानां च प्रणोतृभि:।'**[71]

(6) **नये स्रोत**: ऊपर कह आये हैं कि भर्तृहरि ने वाजप्यायन नामक आचार्य का स्थान व्याडि की तुलना में एवं समकक्ष ही स्वीकार किया है: **'वाजप्यायनस्याकृति:, व्याडेस्तु द्रव्यम्।'** एक जगह वे 'पौरस्त्य' दर्शन की चर्चा करते हैं: **'पौरस्त्ये हि दर्शने सति भवाभावौ न स्तो जाते:।'**[72] पुन: वे वाज-प्यायन की चर्चा एक सर्वथा नये रूप में करते हैं: **'तत्र वाजप्यायनस्य दर्शने पाणिने: सर्वाकृतेर्भावात्'**[73]...इत्यादि। वास्तव में इन दोनों ही स्थलों पर दर्शन का अर्थ 'दृष्टि' है, रूढ़ार्थक 'दर्शन' नहीं।

टीका और विविध शास्त्रों का ज्ञान

इस टीका में यों तो सर्वत्र ही भर्तृहरि की बहुशास्त्रविज्ञता के दर्शन होते हैं, किंतु हम कुछ उदाहरणों में उनके विशिष्ट शास्त्रज्ञान से भी परिचित हो सकते हैं। आयुर्वेद के संबंध में उनकी ज्ञानगरिमा इन दो कथनों से ही पता चल जाती है: **'व्याधितास्तेन चिकित्स्यते...दीप्ताग्नय: खराहारा:, इत्यादि:'** तथा **'नागरातिविषामुस्ताक्वाथ: स्यादामपाचन:।'**[74] ये दोनों उद्धरण चरक से लिए गए हैं। प्रथम में सैद्धांतिक चर्चा है, तो दूसरे में उनका औषधि परिचय स्पष्ट होता है। यही बात उनके ज्योतिष, समाज, संस्कार, कर्मकांड आदि से संबद्ध ज्ञान की व्यापकता के विषय में भी घटती है। दर्शन का ज्ञान तो उनकी हर उक्ति से ही झलकता है। जगह-जगह वे मीमांसकों की चर्चा करते हैं। सांख्य या कपिलमत, वेदांत या बादरायण मत, एवं वैशेषिक या कणादमत की चर्चा भी वे यत्र-तत्र करते हैं। इसके साथ ही न्याय के मूल विषय 'प्रमाण' की

चर्चा एवं योग की चर्चा भी उनकी कृतियों में यत्र-तत्र विकीर्ण मिलती है। इन्हें हम यथावसर देखेंगे।

निष्कर्ष

अतः हम कह सकते हैं कि न केवल भर्तृहरि ने अपनी महाभाष्यटीका संपूर्ण महाभाष्य पर रची थी, बल्कि वे उसे वाक्यपदीय की रचना से पर्याप्त पहले समाप्त कर चुके थे। यह बात इससे ही स्पष्ट हो जानी चाहिए कि टीका की सीमा एक ओर महाभाष्य के विषय से बंधी भी हुई है, तो दूसरी ओर इसमें अपने विविध शास्त्रज्ञान के प्रदर्शन के लिए वे स्वतंत्र भी हैं। उधर, वाक्यपदीय में फिर वे केवल व्याकरण एवं भाषाचिंतन से संबद्ध केवल दार्शनिक विषयों को ही ले रहे हैं, और वहां उनके लिए शास्त्रों अथवा शास्त्रकारों के विविध मतों के उल्लेख की गुंजाइश नहीं है।

वाक्यपदीय

पिछले दो-तीन दशकों में ही इस अकेली कृति ने विश्व के भाषाविदों का जितना ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है, उतना किसी अन्य कृति ने नहीं। आज व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से यह कृति सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। इस पर भी क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इसी शती के पांचवें दशक के पूर्वार्द्ध तक इस कृति का एक भी पूर्ण एवं संपादित संस्करण उपलब्ध नहीं था। जो कुछ था भी, वह खंडित, अपूर्ण एवं संपादित रूप में ही था। वह भी कहीं ढूंढ़े से भी न मिलता था। स्वयं लेखक को अपने शोधप्रबंध के लिए इसका संग्रह इधर-उधर से हस्तलिखित प्रतियों एवं त्रुटिपूर्ण मुद्रित प्रतियों की सहायता से करना पड़ा। पंचम दशक के उत्तरार्द्ध में इसके प्रथम कांड—ब्रह्मकांड—का पूर्ण एवं प्रामाणिक प्रथम संस्करण पं० चारुदेव शास्त्री द्वारा लाहौर से संपादित किया गया। यह दुर्भाग्य की ही बात है कि उनके द्वारा संपादित होकर मुद्रित होनेवाला द्वितीय कांड अभी अधूरा ही छपा था कि भारत-विभाजन के कारण संपादक एवं प्रकाशक को भारत आना पड़ गया। उसकी केवल दो-चार अपूर्ण मुद्रित प्रतियां ही भारत पहुंच सकीं। इससे कुछ पूर्व ही त्रिवेंद्रम से तृतीय कांड का उत्तरार्द्ध अर्धसंपादित रूप में साम्बशिव शास्त्री द्वारा छपवाया गया था। परंतु सातवें दशक के आरंभ तक इनमें से एक भी प्रति सुलभ नहीं थी।

इधर लेखक का 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' नामक शोधप्रबंध 1963 ई० में प्रकाशित हुआ, और उधर श्री सुब्रह्मण्य ऐयर द्वारा संपादित 'वाक्यपदीय' खंडशः दकन कॉलेज, पूना से प्रकाशित होकर सामने आने लगा। इसी वर्ष डॉ०

गौरीनाथ शास्त्री का शोधप्रबंध भी प्रकाशित हुआ, जो वाक्यपदीय पर ही आधारित था। इससे पूर्व भी एकाध शोधप्रबंध में वाक्यपदीय की यत्किंचन कारिकाओं का आश्रय लिया गया था। आज स्थिति यह है कि एक ओर श्री ऐयर द्वारा संपादित एवं अनूदित संस्करण सामने आ चुका है, पूना विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित एवं श्री अभ्यंकर एवं लिमये द्वारा संपादित संस्करण भी उपलभ्य है, तथा अन्यान्य टीकाएं एवं संपादन भी उपलब्ध हैं। विश्व के विविध कोनों से—अमेरिका, कनाडा, फ्रांस एवं जर्मनी आदि से—इसके विविध पक्षों को लेकर प्रयास हुए हैं। भारत में तो इसके विविध अंशों को लेकर अनेक प्रबंध आ चुके हैं। स्वयं लेखक के दो शोधप्रबंध 'भाषातत्त्व' और 'दार्शनिक पृष्ठभूमि' को लेकर प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ० रामसुरेश त्रिपाठी का 'संस्कृत व्याकरण-दर्शन' भी मूलतः इस पर ही आधारित है। अन्य अनेक विद्वानों के प्रबंध इससे पहले भी और बाद में भी सामने आते रहे हैं।

किंतु मध्ययुग में इसके अध्ययनालोचन की स्थिति अत्यंत विरोधाभासपूर्ण रही। एक ओर, संस्कृत व्याकरण का उस युग में लिखा गया कदाचित् ही कोई ग्रंथ ऐसा रहा होगा, जिसने वाक्यपदीय और उसके कर्ता का किसी-न-किसी रूप में उल्लेख न किया हो। यहां तक कि नागेशभट्ट ने भी **'वाक्यपदीय'** और 'हरि' का उल्लेख अनेकत्र किया है। भर्तृहरि की 'टीका' एवं 'वाक्यपदीय' का सर्वप्रथम उपयोग न्यासकार **जिनेन्द्रबुद्धि** ने स्पष्ट ही किया है। उसके बाद तो **कैयट** ने उनकी टीका का संक्षेप करना ही अपना धर्म मान लिया, यद्यपि प्रत्यक्षतः उन्होंने ऐसा कहा नहीं है। केवल वैयाकरणों ने ही भर्तृहरि की कृतियों से लाभ उठाया हो, या उनके मतों की समीक्षा की हो, ऐसी बात नहीं है। दार्शनिकों ने भी उनका पर्याप्त मंथन एवं आलोचन किया। मीमांसक तो जैसे उन्हें अपना ही आलोच्यविषय मानते थे। भर्तृहरि ने भी मीमांसा के सिद्धांतों को पूरी तरह आलोचित किया था। उनके वक्तव्यों से पता चलता है कि मंडन मिश्र एवं प्रभाकर आदि से पर्याप्त पहले ही **अभिहितान्ववाद** एवं **अन्विताभिधानवाद** आदि की स्थापना हो चुकी थी। बौद्ध दार्शनिकों तक ने भर्तृहरि के मतों की खूब समीक्षा की है।

दूसरी ओर, वैयाकरणों द्वारा अध्ययन-अध्यापन के प्रसंग में इसकी कितनी घोर उपेक्षा रही, यह इसी बात से सिद्ध है कि इस पर सबसे कम टीकाएं रची गयीं। और जो रची भी गयीं, वे भी आज अपूर्ण एवं खंडित रूप में उपलब्ध हैं। स्वयं पुण्यराज की साक्षी के आधार पर तृतीय कांड के दो समुद्देश—लक्षण और बाधा—उसमें से सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। अन्यत्र एक जगह 'उपमा-समुद्देश' की भी चर्चा मिलती है, जो संप्रति अनुपलब्ध है। लेखक इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि संभवतः 'उपमासमुद्देश' और 'लक्षणसमुद्देश' एक ही समुद्देश

के दो नाम रहे होंगे। उसकी दृष्टि में तो **लक्षण और बाधा** भी एक ही समुद्देश के विषय रहे होंगे। लेखक की दृष्टि में तृतीय कांड के समुद्देशों की संख्या पूरी करने के उद्देश्य से ही वर्तमान चतुर्थ समुद्देश—**भूयो द्रव्यसमुद्देश**—को पंचम **'गुणसमुद्देश'** से अलग करके पढ़ा गया होगा। इससे भी बड़ी विडंबना यह है कि पुण्यराज को भर्तृहरि का यद्यपि लगभग समकालिक माना जाता है, पर वे स्वयं किसी भी बात में निश्चित नहीं है। उनके समय तक ही ये दोनों समुद्देश लुप्त हो चुके थे। हेलाराज तो पर्याप्त परवर्ती टीकाकार रहे हैं। 'वृषभदेव' भी भर्तृहरि के बहुत बाद के नहीं रहे होंगे। पर कुछ स्थलों पर वे भी भर्तृहरि का आशय समझने, एवं उनकी कारिकाओं की प्रामाणिकता के विषय में द्विविधामय दिखायी देते हैं।

विषय विवेचन

द्वितीय कांड के अंत में भर्तृहरि पहले दोनों कांडों को **'आगम संग्रह'** कहकर उन्हें 'अपने गुरु द्वारा प्रणीत' बताते हैं। कदाचित् उनका अभिप्राय यह था कि इन दोनों कांडों का वक्तव्य विषय उन्हें गुरूपदेश से ही प्राप्त हुआ था। इसी प्रसंग में वे तृतीय कांड को इन दोनों से भिन्न एवं अलग से परिगणित करते हैं। उनके अपने अनुसार 'जो सिद्धांत या आगम हमने पहले दो कांडों में उपस्थापित किया है, उस पर विस्तृत विचार तृतीय कांड में किया जायेगा': 'काण्डे तृतीये न्यषेण भविष्यति विचारणा।'[75] अतः यहां यह उचित होगा कि हम तीनों कांडों पर विषय-दृष्टि से एक सरसरी निगाह डाल लें।

प्रथम कांड : आगम या ब्रह्मकांड

यद्यपि भर्तृहरि प्रथम दोनों कांडों को ही 'आगमसंग्रह' कहते हैं, किंतु सामान्यतः परिचयात्मक रूप में प्रथम कांड को ही 'आगमकांड' कहा जाता है। वास्तव में 'आगम' का यहां अर्थ 'प्रतिज्ञा' या 'उपस्थापना' से है। वैसे भी भर्तृहरि की अपनी परिभाषा के अनुसार 'परंपरा से अविच्छिन्न उपदेश आगम कहलाता है।'[76] इस दृष्टि से उन्हें जो धरोहर गुरूपदेश एवं परंपरा-दृष्टि से प्राप्त हुई, वही इस कांड में उपस्थापित है। 'ब्रह्मकाण्ड' नाम देने का कारण पहले कहा ही जा चुका है। इस कांड में प्रमुख रूप से शब्द ब्रह्म एवं वाक् की अविनश्वरता की चर्चा होने के कारण ही इसे यह नाम दिया गया। मूलतः भर्तृहरि को, क्योंकि वाक्यपदीय के लिखने की प्रेरणा महाभाष्य पर अपनी टीका लिखते समय प्राप्त हुई, अतः इसका आरंभिक विषय उन्होंने महाभाष्य के प्रथम आह्निक के आधार पर ही रखा है। सच तो यह है कि इसका संपूर्ण वक्तव्य लगभग चला भी उसी क्रम में है। अंतर यही हुआ है कि विषय के पुनर्नियोजन की दृष्टि से जहां-जहां भर्तृहरि ने उचित समझा है कुछ बाद के,

द्वितीय आह्निक के, एवं कुछ बाहर के विषयों को भी बीच-बीच में ले लिया है। अन्यथा महाभाष्य के अनुकरण पर सबसे पहले वे शब्दानुशासन, शब्द का वास्तविक स्वरूप, व्याकरण का लक्ष्य, वैदिक एवं लौकिक शब्दों का सापेक्ष महत्त्व आदि विषयों को लेकर ही बढ़े हैं। बाद में साधु-असाधु तथा शब्द एवं अपशब्द की चर्चा विस्तार से करते हैं। अधिक संगत रूप में कहना हो, तो उनके प्रथम कांड के वक्तव्य विषय का संपूर्ण वर्गीकरण एवं क्रम निम्न रूप में कहा जा सकता है : शब्दब्रह्म का स्वरूप, उसके अनुसार वेद एवं तदाश्रित स्मृतियों का महत्त्व, ज्ञान एवं शब्द का संबंध, व्याकरण एवं वेद का संबंध, व्याकरण शब्द-ब्रह्म की प्राप्ति के एकमात्र उपाय के रूप में, साधु-असाधु शब्द, प्रमाणचतुष्टय में से प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण का महत्त्व, शब्दार्थसंबंधनित्यता, वाक् का प्रकाशन एवं ग्रहण, स्फोट ध्वनि और अर्थ, वर्ण-पद-वाक्य, वागुत्पत्ति या वागाविर्भाव के विविध सिद्धांत, वर्णविभाजन की संभावना, वाणी की अभिव्यक्ति के चरण एवं व्याकरण का क्षेत्र, अपभ्रंश शब्द और दैवी वाक्, इत्यादि। इसी प्रसंग में साधु शब्दों द्वारा धर्म का अभ्युदय, श्रुति-स्मृति का सापेक्ष महत्त्व एवं नित्यतानित्यता, आदि की चर्चा विस्तार से हुई है। इन सब चर्चाओं में भर्तृहरि की पहुंच अत्यंत सरल एवं बुद्धिगम्य रही है। यद्यपि उनके मत अत्यंत दृढ़ता से उपस्थापित किये गये हैं, इस पर भी उसमें किसी भी प्रकार की दार्शनिक उलझन व्याप्त नहीं हुई है।

संक्षेप में : उनकी दृष्टि में (i) **शब्द** इसलिए ब्रह्म है, क्योंकि उसके बिना जगत् की कोई प्रक्रिया नहीं चल सकती और जागतिक चेतनता का एकमात्र प्रतीक एवं अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम है। (ii) व्याकरण ब्रह्म-प्राप्ति का सर्वाधिक सीधा, लघुतम एवं सरलतम उपाय या साधन इसलिए है कि उससे शब्दब्रह्म की अनुकृतिभूत वेद को समझने, उस पर आधारित धर्म का अभ्युदय करने, एवं अपशब्दों को पहचान कर अधर्म से बचने में सहायता मिलती है। (iii) वाणी के पश्यंती, मध्यमा और वैखरी नाम के अंतिम तीन चरण ही केवल व्याकरण के क्षेत्र में आते हैं, इसीलिए व्याकरण को इन तीनों चरणों का 'परम पद' कहा गया है। पश्यंती की अवस्था से ही पदयोजना से संबद्ध व्याकरणविचार आरंभ हो जाता है। (iv) शब्द का वास्तविक स्वरूप **स्फोट** इसलिए कहा गया है, क्योंकि ध्वनि काल और क्रम से ग्रस्त होने के कारण अखंड रूप में शब्द की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। एक ओर अखंड स्फोट की अभिव्यक्ति ध्वनिकाल की अनुपातिनी होती है और दूसरी ओर यह स्फोट के रूप में संभव हो पाती है, जिसके आविर्भाव में काल और क्रम की कोई समस्या अभिव्याप्त नहीं होती। (v) स्फोट और अर्थ में अंतर यह है कि स्फोट एक जातिरूपा, समग्र एवं अखंड अभिव्यक्ति और प्रतीति का कारण होता

है, जबकि अर्थ उसकी व्यक्तिरूपा प्रतीति को कहते हैं। (vi) प्रकृति-प्रत्ययादि तथा प्रकरणादि का भान 'अर्थ' की व्यक्तिविस्तारमयी चेतना के समय होता है। (vii) वाक्य एक अविभाज्य इकाई है, जिसका पदादि में विभाजन संभव नहीं। यदि पदों की अलग सत्ता मान ली जाये तब वर्णों की भी सत्ता एवं अर्थवत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। उस दशा में वर्णों के भी भाग स्वीकार करने पड़ेंगे। (viii) आगम या श्रुति नित्य इसलिए है कि उसे किसी मनुष्य जैसे अल्पजीवी पुरुषादि कर्ता ने नहीं बनाया, बल्कि वह अकर्तृक रूप में ही आविर्भूतप्रकाश एवं अनुपप्लुतचेता ऋषियों के हृदय में आविर्भूत होता रहता है। (ix) उसी रूप में वार-बार प्रकाशित होते रहने के कारण ही उसे परंपरा से अविच्छिन्न उपदेश के रूप में कहा गया है। (x) इसके विपरीत स्मृति का कर्ता कोई-न-कोई मनुष्य होता है और उसका निर्माण श्रुतिवचनों के आधार पर होता है : उनके ही भावों और लिंगों के आधार पर। मनुष्यकृत होने से स्मृति नष्ट भी हो जाती है, तथा नये कर्ता द्वारा उनका फिर से सृजन भी हो सकता है। किंतु आगम या श्रुति सदा एक ही रूप में आविर्भूत होती है। (xi) व्याकरण भी पुनः-पुनः निबद्ध होने के कारण स्मृति की कोटि में ही आता है।···इत्यादि।[77]

द्वितीय कांड : वाक्यकांड

इस कांड में वाक्य को एक अविभक्त इकाई के रूप में घोषित किया गया है। इसीलिए वाक्यार्थ को भी एक और अविभक्त इकाई कहा गया है। स्वाभाविक है कि ऐसी स्थिति में पद और पदार्थ, और वर्ण एवं उसके अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। परंतु वाक्य को सभी विद्वान् एक और अविभाज्य इकाई स्वीकार नहीं करते रहे। इसीलिए वाक्य के संबंध में अपने समय तक स्थापित आठों मतों की चर्चा भर्तृहरि करते हैं और अंततः अपनी परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार **वाक्य एक, अखंड, अपद, अक्रम निर्भाग अभिव्यक्ति है, जिसे पदादि में विभक्त तो नहीं किया जा सकता,** यद्यपि समझने-समझाने की सुविधा की दृष्टि से उससे अलग करके पदों को वैसे ही देखने का प्रयास किया जाता है, जैसे पदों में भी प्रकृति और प्रत्यय को अलग-अलग करके देखने का प्रयास किया जाता है। अखंड अभिव्यक्ति की दृष्टि से 'वाक्य' और 'शब्द' एक ही अर्थ के वाचक ठहरते हैं। वास्तव में वाक्य की एकता का कारण भर्तृहरि औदुम्बरायण के मत को स्पष्ट करते हुए बताते हैं : 'बुद्धिगत अर्थ की एकता के कारण वह अविभाज्य है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से जो वाक्य एवं वाक्यार्थ को पद एवं पदार्थ के रूप में विभक्त करके देखने का प्रयास किया जाता है, वह ग्रहीता की अशक्ति का

प्रतीक है, न कि किसी शब्दशक्ति का।'

वाक्यार्थ और पदार्थ की चर्चा करते ही 'अर्थ' की प्रकृति एवं उसकी प्रतीति के विविध रूपों की समस्या उठ खड़ी होती है। भर्तृहरि के मत में अर्थ की परिभाषा है : 'जिस शब्द के उच्चारणसमकाल ही जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उस शब्द का वास्तविक अर्थ है।' उच्चारणसमकाल इस प्रतीति को ही भर्तृहरि 'अभिधा' कहते हैं। 'अभिधा' को वे 'अभिधान' (कथन) एवं 'अभिधेय' (वक्तव्य) के बीच एकमात्र नियम के रूप में मानते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'शब्द' का अर्थ वही होगा, जिसमें प्रयोक्ता ने उसका प्रयोग किया है। अतः न तो शब्द का कोई मुख्यार्थ है, न ही गौणार्थ। मुख्य और गौण की यह प्रकल्पना तो किसी शब्द की स्थल-विशेष पर होने वाली उसकी सिद्धि या असिद्धि पर आधारित होती है। स्थल-विशेष पर किसी अर्थ की सिद्धि या असिद्धि उसे वहां मुख्य बना देती है। अन्यथा, 'सास्नादिमान् पिण्ड' एवं 'वाहीक' दोनों ही अर्थ 'गौ' शब्द से एक-समान रूप में ही ध्वनित होते हैं। एक अन्य कारण लोकप्रसिद्धि को भी कहा जा सकता है। सबसे बढ़कर मुख्यार्थ का लक्षण यह है कि वक्ता जिस अर्थ को अभिव्यक्त करना चाहता है, वही वहां मुख्य होता है। अन्य अर्थ वहां अभिप्रेत ही नहीं होते।

वाक्य के संबंध में पूर्वोक्त आठ मतों में से पांच को 'खण्डवादी' पक्ष में रख सकते हैं, जबकि तीन मत वाक्य को 'अखण्ड' मानकर चलते हैं। भर्तृहरि इसी अखंड पक्ष के सर्वप्रमुख उद्घोषक थे। यही कारण था कि वे शब्द-शक्तियों की उस कल्पना के सर्वथा विरोधी थे, जिसे आलंकारिकों ने स्वीकार किया था।[78]

तृतीय कांड : व्याकरण का दर्शन

भर्तृहरि ने स्वयं इस कांड को पहले दो कांडों से भिन्न प्रकृति का स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि से पहले दोनों कांड 'आगम' कहे जा सकते हैं, जबकि तृतीय कांड में उन सब सिद्धांतों का प्रायोगिक रूप व्याकरण की मूल धारणाओं के साथ संबद्ध करके किया गया है। हम कह आये हैं कि वाक् और वाक्य का विश्लेषण पहले दो कांडों का लक्ष्य रहा है। 'वाक्यपदीय' नाम इस बात को स्पष्ट करता है कि उसके शेषभाग में 'पद' की विस्तृत चर्चा भी होनी चाहिए। अब क्योंकि 'पद' से संबद्ध अनेक विषय ऐसे हैं कि उन पर विचार के समय दार्शनिक पृष्ठभूमि को समझना अत्यावश्यक हो जाता है, अतः इस प्रकार का विचार उन्हीं विषयों के आधार पर बांटकर किया जाना स्वाभाविक है। पद से संबद्ध विषय हैं : **वचन, विभक्ति, कारक, लिंग, पुरुषः उपग्रह, एवं भाव, समास, कर्तृकर्मभाववाच्य आदि।** इन सबका प्रयोग क्यों, कैसे,

कहां होता है ?—इत्यादि प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए वक्ता की चिंतनपद्धति का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। यहां 'वक्ता' का अभिप्राय उस जाति-विशेष से भी है, जो उस भाषा-विशेष को प्रयोग कर रही होती है। 'जातीय विचारपद्धति' को ही 'दर्शन' कहा जाता है। उदाहरणार्थ, वचन का संबंध 'संख्या' से है, किंतु 'संख्या' का संबंध जाति-व्यक्ति एवं 'स्थान' या 'अवकाश' (दिक्) से है। यह दिक् की दूरी या उसका मिट जाना ही एकत्व और नानात्व की कल्पना या संभावना को जन्म देता है। इस प्रकार केवल 'वचन' के विचार के लिए ही हमें 'संख्या', 'दिक्' एवं जाति-प्रयोग या व्यक्ति-प्रयोग के विवेचन में जाना होगा। यही बात काल, लकार और भाव के संबंध में है, जिनका विवेचन 'क्रिया' के संबंध में आवश्यक हो जाता है। 'पुरुष' और 'उपग्रह' दोनों का संबंध वक्ता के 'अहम्' या तदाश्रित फल को केंद्र बनाकर चलता है। अत: दोनों में ही 'आत्म और पर' का विचार आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि पद से संबद्ध सभी विषय उसके प्रयोग के पीछे स्थित वक्ता की भावना या चिंतन-पद्धति पर आश्रित होते हैं।[79]

इस कांड के प्रमुख विषयों का संक्षिप्त विवेचन आगे किया जाएगा। यहां हम उन कुछ चमत्कारी तत्त्वों को देखेंगे, जिन पर भर्तृहरि ने इस प्रसंग में विचार किया है :

(क) **तीन अनंत तत्त्व** : भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' के प्रथम श्लोक में 'दिक्' और 'काल' से अनवच्छिन्न 'चित्' को ही 'अनन्त' तत्त्व कहा है। दूसरे शब्दों में, दिक्, काल और चित् तीनों ही अनंत होते हुए भी एक-दूसरे को प्रभावित करने पर उसे सीमित और 'सान्त' कर सकते हैं। प्रथम दोनों अनंत होते हुए भी स्वयं कुछ करने में असमर्थ हैं। अतः सब कुछ कर सकने में समर्थ **'चित्'** उनसे अप्रभावित एवं अविभक्त रहता है। मनुष्य जन्मादि के रूप में यही चैतन्य काल एवं दिक् से आवृत या सन्नद्ध दिखाई देता है। परंतु वास्तविकता यह है कि इनसे प्रभावित होने वाले जन्म, मृत्यु आदि चैतन्य के धर्म नहीं बनते। इसीलिए तीनों के अनंत होने पर 'सत्ता' एवं 'क्रिया' की दृष्टि से केवल चित् या चैतन्य ही सर्वसमर्थ बैठता है। 'दिक्' जहां व्यक्तिरूप चैतन्य में एकत्व-नानात्व, संख्या एवं उसके कारकत्व की दिशा, आदि का निर्देश करता है, वहां 'काल' सत्ता और क्रिया के एक ओर अविभक्त होने पर भी कालदृष्टि से उसके विभाग करता प्रतीत होता है : भूतकाल, भविष्यत्, आदि के रूप में। परंतु जिस तरह पूर्व-पश्चिम, अगला-पिछला आदि के रूप में बंटकर भी 'आकाश' या 'दिक्' एक एवं अनवच्छिन्न है, उसी प्रकार भूत, वर्तमान, भविष्यादि विभाग मानव की बुद्धि पर ही आश्रित हैं, वास्तविक नहीं। प्रयोक्ता के बुद्धिभेद से इन सबकी परिभाषाएं या सीमाएं बदलती रहती हैं।

पर वास्तव में काल एक और अविभक्त ही रहता है। इन दोनों तत्त्वों से प्रभावित-सा दिखाई देने के कारण ही हम 'व्यक्ति' को अलग-अलग देखना आरंभ कर देते हैं, जबकि सत्य यह है कि एक विशाल व्यक्ति-समुदाय में सामान्य लक्षणों को पाकर हम उसे एक 'समानवर्ग' या 'जाति' के रूप में देखने लगते हैं। अब यदि इसी समानता के दायरे को बढ़ाते जाएं, तो हम देखेंगे कि संपूर्ण सृष्टि ही 'चेतन' और 'अचेतन' के भेद पर आश्रित है। चेतन-अचेतन का यह भेद जब वक्ता की अभिव्यक्ति की इच्छा के साथ संबद्ध हो जाता है, तब उसमें 'अहम्' को केंद्र मानकर 'आत्म' और 'पर' का भाव भी जाग जाता है। इस प्रकार 'आत्म' और 'पर' के इस मौलिक भेद पर आश्रित 'उपग्रह' (आत्मनेपद-परस्मैपद) एवं 'पुरुष' (उत्तम-मध्यम-प्रथम) चैतन्य के विचारणीय विषय ठहरते हैं। इन तीनों के साथ ही जुड़ा है प्रश्न 'नाम' और 'आख्यात' के परस्पर भेद का। जहां 'काल' चैतन्य पर प्रभाव डालता प्रतीत होता है, वहां 'क्रिया' जन्म लेती है। 'नाम' के साथ 'काल' का कोई संबंध नहीं होता। 'काल' केवल 'क्रिया' की एक आवश्यक शर्त बनकर रहता है, किसी भी क्रिया के अनेक पूर्वापर चरणों में विभक्त होने के कारण। किंतु 'नाम' अस्तित्ववान् व्यक्ति का संकेतक होने के कारण 'दिक्' से प्रभावित होता है : वह या तो किसी की ओर जाता है, किसी के लिए कुछ लेकर जाता है, किसी से दूर जाता है, कहीं स्थित रहकर कुछ करता है, इत्यादि। अर्थात् 'नाम' द्वारा सूचित व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया उस व्यक्ति की क्रिया-दिशा पर आश्रित रहती है। इसीलिए जिस प्रकार क्रिया के समस्त भावों का संबंध किसी-न-किसी रूप में काल से है, उसी तरह से उसे करने वाले व्यक्ति का संबंध किसी-न-किसी रूप में उसकी दिशा से है। इस दिशाबोधक नाम की स्थिति को ही 'कारक' कहते हैं। यही चैतन्य शारीरिक परिवेश में आकर जिन कुछ विशेष लक्षणों के कारण एक विशेष प्रकार से वर्गीकृत किया जाता है, उस 'लक्षणजन्य प्रतीति' को ही 'लिंग' कहते हैं। अतः **चैतन्य, काल और दिक्** तीनों ही तत्त्व भर्तृहरि की व्याकरण-दर्शन-चेतना के प्रधान अंग रहे हैं।[80]

(ख) **सत्ता एक और अखंड** : यास्क ने नाम और आख्यात की परिभाषाओं में 'भावप्रधान आख्यात' एवं 'सत्त्वप्रधान नाम' कहकर 'भाव' और 'सत्ता' में एक भेद स्थापित किया था। सत्य यह है कि 'भू' और 'अस्' धातु समानार्थक मानी गई हैं और 'भाव' और 'सत्त्व' (या सत्ता) दोनों ही उनके भाववाचक रूप हैं। फिर भी दोनों में एक को क्रिया या आख्यात का लक्षण एवं एक को नाम शब्द का लक्षण माना है।[81] ऐसा क्यों? भर्तृहरि ने इस पर विचार किया। उनका निष्कर्ष यह है कि 'सत्ता' और 'क्रिया' एक-दूसरे से गुंथे

हुए एवं अविभक्त हैं। दोनों ही 'अवयव-समूह' से मिलकर बने प्रतीत होते हैं, किंतु दोनों ही इन खंडों से अविच्छिन्न रहकर एक निरंतरता की भावना की प्रतीति देते हैं। जिस प्रकार 'सत्ता' पर आधारित एक 'व्यक्तित्व' (या जातित्व) जन्म लेता है, और जिस प्रकार 'व्यक्ति' का अनेकत्व एवं भिन्नत्व भी उसकी समूहगत पहचान जाति को एक और अविच्छिन्न रूप में जन्म देता है, उसी तरह एक व्यक्ति का—और उस दृष्टि से संपूर्ण सृष्टि-प्रक्रिया का—संपूर्ण जीवन या व्यापार ही एक और अखंड 'क्रिया' कहा जा सकता है, जिसके विविध अंशों के रूप में हम विविध जीवन-व्यापारों या क्रियाओं को आविर्भूत होता पाते हैं। वास्तव में तो सत्ता की भांति क्रिया भी काल और दिक् से अप्रभावित रहनी चाहिए, और रहती भी है, किंतु हम अपनी इच्छानुकूल उसे जब विभक्त रूप में बंटा देखने का प्रयास करते हैं, तब वह 'जाना', 'पढ़ना' आदि के रूप में विभक्त दिखाई देती है, यद्यपि सत्य यह है कि यह 'जाना' 'पढ़ना' आदि भी कोई एक और पृथक् व्यक्तित्व लिए नहीं होतीं। इनको भी हम अनेक चरणों में बंटा पाते हैं। इस प्रकार सत्ता और क्रिया मूलतः एवं स्वरूपतः एक और अखंड हैं। जिस प्रकार एक व्यक्ति या अनेक व्यक्तियों के जीवन या मरण से सृष्टि की अनंत प्रक्रिया में कोई अंतर नहीं आता, और वह निरंतर नए-नए रूप में चलती ही रहती है, उसी तरह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव से भी उसकी सत्ता में कोई अंतर नहीं आता : अगर एक को हम दृश्य सत्ता कह सकते हैं, तो दूसरी को 'अदृश्य सत्ता' कह सकते हैं। अततः वह 'सत्ता' के रूप में एक एवं अखंड स्थिति ही है। इस सत्ता को 'चैतन्य' से समानार्थक एवं अभिन्न नहीं समझना चाहिए। एक बार सत्ता और क्रिया की वास्तविक 'एकता' और 'अखण्डता' को समझ लेने के बाद यह भी समझ लेना जरूरी है कि इसी सत्ता और क्रिया की प्रतीति हमें खंड-खंड में बंटकर होती है। खंड-खंड में बंट-कर होने वाली यह प्रतीति भी यद्यपि अनेक सामूहिक लक्षणों से जन्म लेती है, तब भी विशाल सत्ता और क्रिया की तुलना में हम इसे 'व्यक्ति' या 'अंश' कह सकते हैं। अतः ऐसी अनेक क्रिया-व्यक्तियों या सत्ता-व्यक्तियों से जन्म लेने वाली क्रिया या सत्ता एक समग्ररूपा होने के कारण 'जाति' ही कहला सकती है, व्यक्ति नहीं। इसीलिए भर्तृहरि इन दोनों को 'जाति' में ही गृहीत करते हैं, और इसकी व्यक्ति-सत्ताओं और व्यक्ति-क्रियाओं को असत्य रूप में विभक्त स्वीकार करते हैं।[82]

(ग) **सापेक्ष दृष्टि :** हमने अभी जो कुछ सत्ता के आविर्भाव-तिरोभाव एवं 'दृश्य-अदृश्य' रूपों के विषय में कहा है, उसे ही वेद में 'सत्' और 'असत्' के भेद से कहा गया है। इसे ही सांख्य में अपनाकर 'सत्कार्यवाद' का मूल आधार बनाया गया। परंतु सांख्य के सत्-असत् एवं वेद के सत्-असत् की मान्यता

में कुछ भेद भी है। वेद यह मानता है कि ये दोनों सापेक्ष स्थितियां हैं : 'सत्' के बंधक सूत्र को ही ऋषियों ने 'असत्' के रूप में पहचान लिया। अर्थात्, दो 'सत्' स्थितियों के बीच की स्थिति या सत्ता को ही उन्होंने 'असत्' माना : 'अदृश्यमान सत्'! 'सत्' दोनों ही स्थितियां हैं, अंतर है उनके दृश्य एवं अदृश्य होने का। यही बात सांख्य ने अदृश्य प्रकृति को 'अव्यक्त' कहकर स्वीकार की है। जब पुरुष की प्रेरणा से प्रकृति सृष्टि करती है, तब वह 'व्यक्त' या 'सत्' कहलाती है। जब वह इस सब का उपसंहार करके अपने मूल रूप में स्थित होती है, तब उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। किंतु सांख्य का अंतर यही है कि उसने 'असत्' को 'अभाव' की स्थिति माना है। इसीलिए उसके सत्कार्यवाद का मूलाधार है : **'नासतो सज्जायते'**, जबकि वैदिक भावना में 'असत्' भी 'सत्' की ही एक अदृश्य या असृष्ट स्थिति है। भर्तृहरि ने दोनों को वैदिक दृष्टि में ही एकीभूत कर दिया है। वे इस विभेद को 'भावाभाव', 'जन्म-नाश', 'आविर्भाव-तिरोभाव' आदि नामों से भी अविच्छिन्न एवं अभिन्न कहने के बाद कहते हैं कि 'ये दोनों ही भेद एक ही सत्ता के रूप होने से केवल दो परस्पर-सापेक्ष स्थितियों के सूचक-मात्र हैं, एक-दूसरे के विरोधी नहीं।' इस बात को उन्होंने संबंधसमुद्देश, कालसमुद्देश, क्रियासमुद्देश आदि अनेक स्थलों पर बार-बार दोहराया है।[83]

दार्शनिक तत्त्व

सांख्य की इस चर्चा के साथ ही यह भी उचित होगा कि हम यह भी देख लें कि किस प्रकार भर्तृहरि ने छहों विविध दर्शनों से सभी प्रमुख तत्त्वों को ग्रहण कर अपने व्याकरण दर्शन का निर्माण किया।

वेदांत : भर्तृहरि के चिंतन पर वेदांत का प्रभाव अत्यधिक पड़ा। वास्तव में इसे 'वेदांत' न कहकर 'पूर्वमीमांसा' कहना अधिक उचित होगा। भर्तृहरि शंकर से पूर्व हुए थे। अतः उनका दर्शन वैदिक अद्वैतवाद पर आश्रित है, न कि शंकर मत पर। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि वे प्रकृति की सत्ता से इनकार करते हैं। वेदांत के प्रभाव का अभिप्राय यही है कि उन्होंने शब्द को ही ब्रह्म घोषित करते हुए जो उसे ही एक, सर्वबीज, सर्वशक्तित्वयुक्त आदि के रूप में माना है, वह अपने वेदांत-चिंतन के कारण ही।[84] तृतीय कांड के द्रव्यसमुद्देश में भी उनकी विचारधारा प्रथम कांड की प्रथम कुछ कारिकाओं से ही प्रभा-वित दिखाई देती है : तुल० **'भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः'** एवं **'तद्द्रष्टा दर्शनं दृश्यम्'**[85] इत्यादि।

मीमांसा : निस्संदेह भर्तृहरि ने मीमांसा का आश्रय सर्वाधिक लिया है। 'अर्थैक्य' को 'वाक्य' की परिभाषा में सर्वप्रमुख स्थान देने का कारण यही दीखता

है।[86] क्रिया, नाम आदि का विभेद भी मीमांसा में बताये गये भेद के अनुरूप ही है। किंतु वे मीमांसक नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उन्होंने मीमांसा के मतों की समीक्षा भी की है। उनके समय तक अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वय-वाद की स्थापना पूरी तरह हो चुकी थी। इसीलिए पदार्थ और वाक्यार्थ के परस्पर संबंध पर उनका संपूर्ण विचार, मीमांसा के मतों की समीक्षा के रूप में ही, कहा जा सकता है। जाति-व्यक्ति एवं क्रिया का संपूर्ण विवेचन भी इसपर ही, आधारित है, किंतु एक सतर्क समालोचक की कलम से।

न्याय : प्रमाण-चतुष्टय की बात ऊपर की जा चुकी है। भर्तृहरि एक सच्चे व्यवहारविद् की भांति **आगम** और **प्रत्यक्ष** प्रमाण को समान महत्त्व देते हैं। **अनुमान** उन्हें सर्वाधिक भ्रमोत्पादक प्रतीत होता है। **उपमान** को वे आवश्यक मानने पर भी उसको एक सीमा तक स्वीकार करने को तैयार हैं। इसीलिए वाक्-ग्रहण प्रक्रिया में वे 'प्रत्यक्ष' को इतना महत्त्व देते हैं कि उन्हें उस पर आधारित 'अभिधा' ही 'नियम' दिखाई देता है, अन्य किसी भी नियम को वे अभिधान और अभिधेय के बीच संबंध स्थापित करने वाला नहीं मानते। इसीलिए वे आलंकारिकों की शब्दशक्तियों के परम विरोधी एवं केवल वाच्य-वाचक संबंध मात्र को स्वीकार करने वाले भाषाविद् हैं। उनकी दृष्टि में वक्ता और श्रोता के संबंध का निर्णायक तत्त्व यह है कि वक्ता ने जिस अर्थ में एक शब्द को प्रयोग किया है, समझने वाले ने उसे उसी रूप में स्वीकार किया है या नहीं। यदि बिना किसी सहायता के प्रत्यक्ष रूप में उसने प्रयोग-विशेष में 'गौः' का अर्थ 'मंदबुद्धि' स्वीकार कर लिया है, तो वही अर्थ वहां अभिप्रेत होने से वहां 'गौः' का अर्थ कहलाएगा। यह सब उनकी 'प्रत्यक्ष' की धारणा के कारण ही। उनकी साधु-असाधु शब्दों की विवेचना भी 'आगम' और 'प्रत्यक्ष' प्रमाणों पर ही आधारित है।[87]

सांख्य : इसके सत्-असत् एवं सत्कार्यवाद की चर्चा एवं भर्तृहरि द्वारा उसकी व्याख्या की बात हम ऊपर कर आये हैं। यहां केवल इतना और कहना है कि 'चैतन्य' की चर्चा में जड़-चेतन का विभाग एवं उपग्रह और पुरुष के विभाजन को उसपर स्थापित करने की बात उन्हें सांख्य के ही पुरुष-प्रकृति के संबंध से मिली है।[88]

वैशेषिक : सामान्य, विशेष, समवाय आदि सातों **पदार्थों** एवं काल, दिक्, आत्मा और मन के रूप में चार अपांचभौतिक **द्रव्यों** को भर्तृहरि ने क्रमशः तृतीय कांड के जातिसमुद्देश, द्रव्यसमुद्देश, गुणसमुद्देश, संबंधसमुद्देश, काल-समुद्देश, दिक्समुद्देश एवं पुरुष और उपग्रह समुद्देश आदि में विवेचन का आधार बनाया है। इसके अतिरिक्त आत्मा, मन आदि की बात पहले दोनों कांडों में भी सर्वत्र विकीर्ण मिलती है।

योग : शब्दब्रह्म की और स्फोट की धारणा तो योग में होने वाली समाधिगत 'नादब्रह्म' की प्रतीति से प्रभावित ही है। भर्तृहरि की 'शब्दपूर्वक योग' की धारणा पर भी योग का ही प्रभाव है। समाधि की स्थिति का शब्दब्रह्म से संबंध इससे अधिक स्पष्टता से और कहां वर्णित किया जा सकता है : '**अत्रातीत-विपर्यासः केवलामनुपश्यति**'[89] इत्यादि ? अर्थात्, इस शब्दब्रह्म की उपलब्धि होने पर हम शब्द—और उसके मूल प्रतिरूप 'वेद'—की मूल योनि पर पहुंच जाते हैं। वहां से ही शब्द वास्तव में जन्म लेता है और छंद अपना रूप धरकर बाहर आते हैं, मानो छंद का आत्मा यहीं शब्दरूपी शरीर को धारण करता है। किंतु इस स्थिति को 'निर्विकल्पक' होना चाहिए। इससे ठीक अगली कारिका में शब्दपूर्वक योग की चर्चा है, जिसमें कहा गया है कि योग की चरम स्थिति में शब्दरूप का संबंध बहुत पीछे रह जाता है। वही सच्ची अक्षर की उपलब्धि की स्थिति है।[90] किंतु यह उल्लेखनीय है कि हम योग के आठों चरणों को वाक्यपदीय में खोजने के प्रयास में असफल ही रहेंगे।

इनके अतिरिक्त भर्तृहरि ने बौद्धादि दर्शनों के मतों का भी परिशीलन एवं यथावश्यक निषेध किया था।

देन और क्षेत्र

इस प्रकार भर्तृहरि ने व्याकरण एवं भाषाविज्ञान—दोनों ही क्षेत्रों में अभूतपूर्व योगदान दिया। त्रिपदी टीका एवं वाक्यपदीय में व्यक्त धारणाओं एवं विवेचन को, व्याकरण-संबंधी सामान्य धारणा से पृथक् करके, महाभाष्य की पृष्ठभूमि पर समझने का प्रयास करना चाहिए। लगता है कि भर्तृहरि महाभाष्य की मूल भावना के स्पष्टीकरण के साथ-साथ व्याडि के संग्रह की भी मूल भावना को स्पष्ट करना चाहते थे। इसीलिए समग्र रूप में उनके चिंतन को 'भाषा-चिंतन' या 'भाषादर्शन' कहना उचित है, यद्यपि आज की दृष्टि से हम उसे दो प्रधान विभागों में बांट सकते हैं : (i) वे विषय जिनका समावेश अब तक भाषाविज्ञान के नाम से होता आया है, तथा (ii) वे विषय जिन्हें सामान्यतः व्याकरण-दर्शन का विषय माना जाता रहा है। यहां हम वाक्यपदीय में आये दोनों ही प्रकार के चिंतन पर अत्यंत संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। किंतु रूपात्मक व्याकरण के संबंध में व्यक्त उनकी धारणाओं के विषय में हम मौन रहेंगे, अन्यथा विस्तार बहुत अधिक हो जाएगा। इस अनुशीलन में हम मुख्यतः 'वाक्यपदीय' में व्यक्त धारणाओं को ही आधार बनाएंगे।

(क) भाषाविज्ञान-संबंधी निष्कर्ष

1. **वाक् : एकमात्र अभिव्यक्ति की माध्यम :** भर्तृहरि के अनुसार यदि

वाणी का भाषा-रूप या भाषित रूप न रहे, तो समस्त ज्ञान-विज्ञान ही नहीं, मानव की समस्त चेतन-प्रक्रिया तक अर्थहीन हो जाएगी।[91] शब्दतत्त्व का यह अर्थभाव ही है, जिसके माध्यम से जगत् की व्यावहारिक प्रक्रिया चल पाती है।[92] कोई भी चिंतन या विचार शब्द के बिना नहीं रह सकता। किसी प्रकार का संप्रत्यय भी उसके बिना संभव नहीं।[93]

2. **भाषा की परिभाषा** : प्रयोक्ता (वक्ता) और ग्रहीता (श्रोता) के बीच अभिप्राय या बुद्धयर्थ का आदान-प्रदान केवल शब्द के ही माध्यम से होता है।[94] ज्यों ही प्रयोक्ता का बुद्धयर्थ ग्रहीता का बुद्धयर्थ बन जाता है, भाषा या शब्द का कार्य पूरा हो जाता है।[95]

3. **भाषा का ज्ञानार्जन** : भाषा सीखते समय बालक जो अशुद्ध उच्चारण करता है, उसका अर्थ-विनिश्चय उसके मूल शब्द के द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार '**अम्बा**' का उच्चारण **अम्मां** या **मां** आदि के रूप में हो जाता है।[96]

4. **भाषा के संस्कृत और प्राकृत रूप** : भाषा-विकास के संबंध में प्रमुखतः दो मत हैं : 'नित्यवाद' एवं 'अनित्यवाद'। 'नित्यवाद' के अनुसार भाषा दैवी या देव प्रदत्त वस्तु मानी जाती है और उसे जन-प्रचलित नए-नए प्रयोगों के द्वारा व्यतिकीर्ण होता हुआ माना जाता है। किंतु 'अनित्यवाद' के अनुसार जनता में प्रचलित होने वाला भाषा-रूप ही मूल होता है। इसी कारण उसे प्राकृत भी कहते हैं।[97] यही रूप बाद में प्रतिसंस्कृत होकर शिष्ट प्रयोग का विषय बना है। बाद में यही शिष्ट प्रयोग जनता के लिए आदर्श बन जाता है।[98]

5. **साधु-असाधु प्रयोग** : साधु या व्याकरण-सम्मत शब्द वह है जो शिष्ट प्रयोग का विषय हो[99] तथा आगम अर्थात् शास्त्रादि में धर्मादि-साधन के लिए व्यवहृत होता हो।[100] आगम का अर्थ परंपरा से अविच्छिन्न उपदेश अर्थात् श्रुति-स्मृति-लक्षण-ज्ञान है।[101] धर्म का विधान उन्हीं **श्रुतियों-स्मृतियों** में किया गया है।[102] **श्रुति** को अकर्तृक, अनादि और अव्यवच्छिन्न माना गया है,[103] जबकि **स्मृति** इसी **श्रुति** या **वेद** में वर्णित विविध लक्षणों के आधार पर बनती है।[104] **व्याकरण** शब्दों के साधुत्व के विषय में निबद्ध एक ऐसी ही **स्मृति** है, जिसका निबंधन शिष्ट लोग करते हैं।[105] यही कारण है कि शिष्टों के प्रयोग को ही साधुत्व-असाधुत्व के **व्यामोह** में निर्णायक मानकर उसका अनुसरण करना चाहिए।[106]

6. **अपभ्रंश या लोकभाषा का महत्त्व** : जिस प्रकार **श्रुति** के अव्यवच्छिन्न होने से उसमें प्रयुक्त शब्द अव्यवच्छेद्य अथवा नित्य होते हैं, उसी प्रकार अर्थ को वहन करने एवं जन-प्रयोग में प्रचलित होने के कारण असाधु या अपभ्रंश

शब्द भी अव्यवच्छेद्य होते हैं।[107] अर्थवत्ता की दृष्टि से भी उन दोनों में कोई अंतर नहीं होता।[108] उनमें अंतर इसी बात में है कि साधु शब्द आगम-सिद्ध और शिष्ट प्रयोग में प्रचलित होते हैं, जबकि अपभ्रंश शब्दों को यह गौरव प्राप्त नहीं होता।[109] अपभ्रंश शब्द की स्थिति वैसी ही होती है, जैसी बोलना सीख रहे बालक द्वारा अशुद्ध रूप में उच्चरित शब्दों की।[110] जिस प्रकार उन अस्पष्ट शब्दों का अर्थ-ज्ञान उनसे मिलते-जुलते या उनके आधारभूत साधु शब्दों के विनिश्चय द्वारा होता है, उसी प्रकार जन-प्रचलित अनागम-सिद्ध या शिष्टों के अनभिमत शब्दों का अर्थ-विनिश्चय भी साधु-सम्मत किसी शब्द के अर्थ से किंचित् संबद्ध अर्थ में ही कर लिया जाता है।[111] अंतर यही होता है कि किंचित् भिन्न विवक्षा होने के कारण साधु से भिन्न किसी अन्य शब्द का प्रयोग अभिप्रेत होता है। ऐसे समय जो शब्द प्रयुक्त होता है, उसको अपभ्रंश कहते हैं।[112] एक बार जब ऐसा शब्द प्रयुक्त हो जाता है, तब उस अर्थ-विशेष में साधु शब्द का प्रयोग या प्रचलन हो जाता है।[113] जिस प्रकार नित्यवादी साधु-शब्दमयी भाषा को नित्य और उचित मानते हैं, उसी तरह अनित्यवादी भाषा को नित्य मानते हैं।[114] सत्य यह है कि दोनों ही प्रकार के शब्द—साधु और असाधु—नित्य एवं अव्यवच्छिन्न होते हैं।[115]

7. **व्याकरण का प्रयोजन और क्षेत्र** : व्याकरण का प्रयोजन किसी नवीन या कृत्रिम भाषा का निर्माण नहीं है, बल्कि जनप्रयोग में प्रचलित शिष्ट-प्रयोगानुकूल शब्दों का साधुत्व-विधान है, ताकि उन शब्दों का प्रचलन एवं अनुकरण अधिकाधिक एवं उचित रूप में हो सके।[116] इस प्रकार साधु शब्दों का ज्ञान भाषा के प्रयोग-नियमन का हेतु बनता है।[117] शिष्ट प्रयोग का यह महत्त्व इस कारण है कि वह आगमादि में विहित प्रयोगों पर आश्रित होता है।[118] **आगम** और **श्रुति** के नित्य एवं परंपरागत रूप में अविच्छिन्न होने के कारण साधु-प्रयोग भी नित्य एवं विहित होता है।[119] आगम पर आश्रित होने के कारण शिष्ट-प्रयोग की दृष्टि से **व्याकरण** भी एक **स्मृति** ही है।[120] अतः आगम के नित्य होने से व्याकरण-रूपी **स्मृति** भी नित्य ही होती है।[121] इस **व्याकरण** का क्षेत्र केवल 'वैखरी' या उच्चरित वाक् तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत 'मध्यमा' और 'पश्यंती' भी इसी के क्षेत्र में आती हैं। **व्याकरण** वाक् के इन तीनों चरणों का परम पद है।[122] दूसरे शब्दों में **व्याकरण** का क्षेत्र केवल उच्चरित वाक् ही नहीं है, बल्कि विचार के क्षणों में क्रियमाण शब्द-राशि भी है।

8. **शब्दब्रह्म** : मानव-अभिव्यक्ति का एकमात्र माध्यम होने से वाक् या शब्द नित्य है, इसकी अर्थभावना से ही जागतिक प्रक्रिया चल पाती है।[123] इस बृंहणशील एवं नित्य व्यापक **शब्दब्रह्म** की उपलब्धि का एकमात्र एवं सरलतम

साधन **व्याकरण** ही है।[124] यदि उस शब्द की उपलब्धि का **प्रमुख साधन वेद** है, तब **वेद** का भी प्रमुखतम अंग **व्याकरण** ही माना जाता है।[125] **शब्दब्रह्म** का वास्तविक स्वरूप इस **व्याकरण** में ही आकर स्पष्ट होता है।[126] दूसरे शब्दों में शब्द के संस्कार को जान लेना ही परमात्मा को पा लेना है।[127]

9. **वाक् की इकाई** : वर्ण, पद और वाक्य के रूप में वाक् का विभाजन केवल स्थिति-सापेक्ष ही है, अन्यथा इनमें से किसी एक का भी व्यक्तित्व निश्चित एवं नित्य नहीं है।[128] वाक्य उस ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति का नाम है, जिसके द्वारा वक्ता या प्रयोक्ता के अभिधेय को पूर्ण रूप में पहचान लिया जाता है, फिर चाहे वह एक वर्णमात्र ही क्यों न हो। उसका वर्ण या पद में विभाजन न तो संभव है, न उचित।[129] यदि इसी प्रकार विभाजन करना हो, तब वाक्यों का पदों में और पदों का वर्णों में विभाजन करके ही रुक जाना संभव न होगा, बल्कि तब हमें वर्णों में भी वर्णभागों की गणना करनी होगी। सच तो यह है कि न तो अर्थ के ही पदार्थ, वर्णार्थ आदि के रूप में कोई भाग हो सकते हैं, और न वाक्य के ही पद, वर्ण या वर्णभाग के रूप में कोई विभाग संभव हैं।[130] वास्तव में न तो किन्हीं वर्णभागों के मिलने से वर्ण बनता है, न वर्णों के मिलने से पद और न पदों के मिलने से वाक्य।[131] वाक्य एक अविभाज्य और अखंड अभिव्यक्ति का नाम है, जिसका पद, वर्ण आदि में विभाजन संभव ही नहीं।[132] वाक्य ही वाक् की अभिव्यंजनात्मक या अर्थविधायक इकाई है।[133] जिस प्रकार तथाकथित पदों में दूसरे पदों के कुछ अंश दिखाई दे जाते हैं, उसी प्रकार वर्णान्तरों में भी वर्णान्तरसादृश्य दिखाई दे सकता है।[134] किंतु जिस प्रकार '**ब्राह्मणकम्बल**' में 'ब्राह्मण' का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं है, उसी प्रकार वर्णों में प्रतीयमान वर्णान्तरस्वरूपों का भी कोई अस्तित्व या प्रयोजन नहीं है।[135] वास्तव में अर्थप्रतीति सदा स्फोट के रूप में होती है, जो अखंड एवं सक्षण प्रतीतिमात्र है।[136] उच्चारित ध्वनिसमूह, पदसमूह या वाक्य के लघु-बृहत् होने से कोई अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी प्रतीति जिस स्फोट के रूप में होती है, वह काल और विभागों की दृष्टि से परिमेय नहीं है।[137] इसी वाक्य की परिभाषा में अव्यय, कारक, विशेषण, क्रिया (तिङन्त) आदि के समावेश की कोई आवश्यकता नहीं है।[138] इस प्रकार सारी पद-कल्पना ही प्रकल्पित है और उसी के द्वारा लोक-व्यवहार चलता है।[139]

10. **पदभेद** : वाक्यों से ही अलग-अलग करके विविध पद-भेदों की कल्पना की गई है। कोई नाम और आख्यात के रूप में दो पदभेद मानते हैं, किसी की दृष्टि में इनकी संख्या **नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च** के रूप में चार है, जबकि यदि कर्मप्रवचनीय के पृथक् अस्तित्व को भी स्वीकार कर लें, तब इनकी संख्या पांच भी कही जा सकती है।[140] पदभेद को चार तक सीमित करने वाले कर्म-

प्रवचनीय को निपातों के अंतर्गत ही स्वीकार कर लेते हैं।[141]

11. **अर्थ की परिभाषा और स्वरूप** : किसी शब्द के उच्चरित होते ही जिस अर्थ या प्रयोजन की प्रतीति होती है, वही उस शब्द का अर्थ है। अर्थ का कोई अन्य लक्षण नहीं। जब उच्चारण-समकाल होने वाली प्रतीति ही अर्थ है, तब उसके लक्ष्य-व्यंग्यादि विविध भेद माने ही नहीं जा सकते, क्योंकि शब्द (अभिधान) और अर्थ (अभिधेय) के बीन एक ही प्रकार का संबंध हो सकता है : **अभिधा** का।[142] दूसरे शब्दों में वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य आदि भेद से अर्थ का विभाजन असंभव है। गो शब्द से जिस प्रकार सास्नादिमान् पिंड की प्रतीति होती है, ठीक उसी प्रकार प्रकरणांतर में वाहीक की भी प्रतीति होती है।[143] वास्तव में वाक्य, अर्थ-प्रकरण, देश-काल-साहचर्य-विरोध आदि विविध उपादान किसी अर्थ के विनिश्चय में सहायक होते हैं।[144] इस दृष्टि से सभी अर्थ एक-समान रूप से ही निश्चित होते हैं। यदि एक ही शब्द के प्रतीयमान विविध अर्थों में कोई अंतर है ही, तो वह है—गौण और मुख्य का।[145] ये दोनों भेद भी भिन्न-भिन्न प्रसंग में 'असिद्धि' और 'सिद्धि' अथवा 'अप्रसिद्धि' और 'प्रसिद्धि' पर आधारित होते हैं।[146] जिस प्रकरणादि में उच्चारण-समकाल ही जो अर्थ सामने आता है, 'प्रसिद्धि' के कारण वही वहां मुख्य होता है।[147] एक शब्द का अनेक अर्थों या द्रव्यादि के साथ संबंध संभव होने से कौन-सा अर्थ कहां अभिप्रेत है, या कहां ऐसा नहीं है, इसका विनिश्चय और नियंत्रण शब्द में अव्याहित दो सत्ताएं करती हैं : 'उपचार' और 'प्रतिचार'। 'उपचार-सत्ता' के द्वारा कोई अर्थ किसी विशेष अवस्था में सामने लाया जाता है, जबकि 'प्रतिचार-सत्ता' उसी स्थिति में अन्य अर्थों को सामने आने से रोके रखती है।[148] अर्थ वास्तव में संप्रत्यय का नाम है, या कह सकते हैं कि अर्थ से ही संप्रत्यय की उपलब्धि होती है।[149] वाक्य-पद-वर्ण आदि भेद से अर्थ की भिन्नता नहीं होती और न ही वाक्यार्थ, पदार्थ या वर्णार्थ जैसी कोई चीज होती है। सच तो यह है तथा-कथित वाक्यार्थ को पदादि के अर्थों के रूप में विभाजित नहीं किया जा सकता।[150] जिस प्रकार वाक्य एक अखंड और अविच्छेद्य अभिव्यक्ति है, उसी प्रकार अर्थ भी एक अखंडनीय अभिव्यक्ति है। न तो उसके भाग किए जा सकते हैं, न उनके जुड़ने से किसी समग्र वाक्यार्थ की सृष्टि संभव मानी जा सकती है।[151] यहां तक कि 'नाम', 'आख्यात', 'उपसर्ग', 'निपात' आदि की दृष्टि से भी अर्थ का विभाजन नहीं किया जा सकता।[152]

12. **शब्दशक्ति** : इस दृष्टि से तथाकथित शब्द-शक्तियों की मान्यता ही असिद्ध होती है। वास्तव में प्रतिपत्ता या ग्रहीता अपनी अशक्ति के कारण ही समझने-समझाने की सुविधा की दृष्टि से कुछ ऐसे शब्दों की स्थिति को स्वीकार कर लेता है, जिन्हें वक्ता ने प्रयोग नहीं किया होता, और इस प्रकार लक्ष्यार्थ

अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की प्रतीति के विविध हेतुओं की कल्पना करता है। इन अविद्यमान शब्दों की कल्पना प्रतिपत्ता की अपनी अशक्ति की सूचक है, किसी शब्दशक्ति की नहीं।[153] भर्तृहरि का यह मत स्फोट-सिद्धांत पर आधारित है, तथा चोम्स्की आदि की वर्तमान पृष्ठ-संस्वनी व्याकरण एवं अंत:संस्वनी व्याकरण जैसी निराधार मान्यताओं का सबल प्रत्याख्यान करता है। शब्द-अर्थ के बीच केवल वाच्य या अभिधा का ही संबंध या नियम हो सकता है, अन्य किसी प्रकार का नहीं।[154]

(ख) व्याकरण-दर्शन-संबंधी निष्कर्ष

1. **जाति-व्यक्ति** : सभी शब्द पहले **जाति** की ही अभिव्यक्ति करते हैं,[155] किंतु विशिष्ट गुणों या द्रव्य से संबंध होने पर वे **व्यक्ति** का कथन करते हैं।[156] जाति और व्यक्ति परस्पर-सापेक्ष स्थिति है। एक के अंदर ही दूसरे के लक्षण समाहित होते हैं : जाति के कार्यों में व्यक्ति समाहित रहता है, जबकि व्यक्ति के गुणों से ही जाति के गुणों की अभिव्यक्ति होती है।[157] क्रिया वास्तव में सत्ता का ही इतर नाम है।[158] सत्ता स्वत: जाति की ही सूचिका है।[159] **गुण**, संख्या, लिंग आदि तत्त्व जाति में ही गिने जाते हैं, क्योंकि वे सामान्य होने के कारण किसी भी व्यक्ति के साथ रह सकते हैं।[160] इस प्रकार जाति-व्यक्ति का भेद सामान्य और विशेष के भेद पर आधारित होता है।[161]

2. **गुण और विशेषण शब्द** : गुण या विशेषण के चार मुख्य लक्षण हैं : संसर्गी, भेदक, परतंत्र और प्रकर्ष-हेतु।[162] इन्हें ही हम ऐसा भी कह सकते हैं : (1) द्रव्य और गुण एक-दूसरे से अलग नहीं किए जा सकते (संसर्गी), (2) गुण एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न सिद्ध करता है (भेदक), (3) इस प्रकार गुण किसी स्वतंत्र सत्ता का द्योतक न होकर द्रव्य का ही द्योतक है (परतंत्र); तथा (4) एक ही जैसे गुणवाले द्रव्य-शक्तियों में परस्पर भेद बनाने के लिए भी गुण ही प्रकर्ष-द्योतन का हेतु (प्रकर्ष-हेतु) बनता है।[163]

3. **सत्त्व और आख्यात** (नाम और क्रिया) : इन दोनों का मुख्य भेद 'सिद्ध' और 'साध्य' के रूप में कहा जाता है।[164] क्रिया या आख्यात साध्यावस्था को सूचित करती है। यह साध्यावस्था अनेक गौण अवयवों से निर्मित होती है।[165] उन अवयवों के एक-दूसरे के बाद घटित होने से क्रिया को प्राप्तक्रमा, आश्रितक्रमरूपा, या क्रमजन्या कहा जा सकता है।[166] षड्भावविकारों का यही रहस्य है।[167] समूहजन्मा होने से यह किसी एक विशिष्ट स्थिति की सूचिका न होकर सामान्य की सूचिका या सामान्यभूता होती है और अनेक भागों में बंटी-सी देखी जा सकती है।[168] किंतु नाम-शब्दों में भेद यह है कि वे साध्यावस्था के सूचक न होकर सत्त्वभाव या सिद्धावस्था के सूचक हैं।[169] किसी क्रिया के सिद्ध-

स्थिति पा लेने पर वह क्रमजन्या नहीं रहती। क्रमजन्यता के इस संहार से ही नाम शब्दों का प्रवर्तन होता है।[170] उनमें निहित धातु या आख्यात से किसी क्रम या साध्यावस्था की सूचना नहीं मिलती। क्रिया जहां समूह की द्योतिका होती है, नामशब्द वहां व्यक्ति या द्रव्य के संकेतक होते हैं।[171] यहां यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार नामों का प्रतिनिधित्व सर्वनामों के द्वारा भी हो जाता है, उसी प्रकार सभी क्रियाओं का कथन 'सर्वनामिका' के प्रयोग के द्वारा भी हो जाता है। ये सर्वनामिका क्रियाएं हैं—**कृ, भू, अस्ति**।[172] एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि किसी क्रिया-विशेष में जो अन्य क्रियाएं गौण या अंग रूप में प्रयुक्त होती हैं, वे ही जब स्वतंत्र अवस्था में मुख्य क्रिया का रूप धारण कर लेती हैं, तब अन्य कई क्रियांश उनके अंगभूत बन जाते हैं।[173]

4. **शब्द की शक्तियां** : हम कह आये हैं कि शब्द-शक्ति नाम से प्रसिद्ध अभिधालक्षणादि के भेद को भर्तृहरि स्वीकार नहीं करते। किंतु फिर भी वे कुछ स्थलों पर शब्द की विविध शक्तियों की चर्चा करते हैं। सर्वप्रथम 'ग्राह्यत्व' और 'ग्राहकत्व' के रूप में वे दो शक्तियों की चर्चा करते हैं।[174] अन्यत्र वे दिक्-साधन (कारक), क्रिया और काल को शब्द की शक्तियों के रूप में गिनते हैं।[175] इन सबको अलग भी उन्होंने कालशक्ति[176], दिक्शक्ति[177], आदि के रूप में कहा है।

5. **दिक् और काल** : दिक् को वर्तमान शब्दावली में 'स्पेस' या 'आकाश' कहते हैं। **काल** क्रिया का गुण है, क्रम दिक् का। क्रिया क्रमाश्रित भी है। नाम में क्रम और काल दोनों का ही समावेश नहीं होता। द्रव्य या व्यक्ति की सत्ता अन्य तत्सदृश व्यक्तियों से उसकी भिन्नता पर आश्रित होती है। अन्यों से उसकी भिन्नता दिक् के कारण ही होती है। दिक् दो द्रव्यों के बीच स्थित अंतराल का नाम है। दूसरे शब्दों में, किन्हीं दो सीमाओं में आबद्ध अंतराल या आकाश ही दिक् कहलाता है।[178] अन्यथा अंतराल निर्भाग और क्रमहीन होता है।[179] काल और दिक् दोनों ही चैतन्य की भांति अविच्छिन्न रूप में स्थित हैं।[180] देश-भेद[181], क्रमभेद[122], संयोग-विभाग[183], अवधिकल्पना[184], भागकल्पना[185], भेदकल्पना[186], अविच्छिन्नता[187], एकत्व-नानात्व[188] आदि के मूल में हेतुभूत यह दिक् ही है। देश-भेद या दिशा-भेद की कल्पना भी उसी प्रकार अवधि पर आश्रित होती है, जिस प्रकार काल-भेद की कल्पना। अवधि एक विशिष्ट बिंदु है। उसकी अपेक्षा में ही पूर्व, अपर, वर्तमान, भूत, भविष्यत् आदि की कल्पना की जाती है।[189] काल के संबंध में यह विशेषता है कि वहां सीमाओं का निर्धारण अवधि और प्रतिपाद्य के द्वारा न होकर प्रतिबंध और अभ्यनुज्ञा के दो बिंदुओं के बीच होता है।[190] कारक-कल्पना का आधार भी यह दिक् ही है। भर्तृहरि के शब्दों में, कर्त्ता-कर्म-करणादि का

भेद आश्रय-भेद पर आधारित है; और यह आश्रयभेद दिक्-तत्त्व पर आधारित होता है।[191] भिन्नता, पृथक्ता और दूरी का कारण यह दिक् ही है।[192] इस पर भी यह सत्य है कि दिक् अखंड और अविच्छेद्य रूप में सर्वगत है।[193]

दिक् की ही भांति काल भी अखंड है।[194] उसके भेद केवल परिकल्पना-मात्र ही हैं।[195] इसी कारण वर्तमान-भूत-भविष्य की सीमाएं किसी भी रूप में निश्चित नहीं की जा सकतीं। वे स्थिति-सापेक्ष या वस्तु-सापेक्ष हैं।[196] हम जिस क्षण को भी अपने प्रत्यक्ष का विषय बनाते हैं, वही वर्तमान है। उसके पूर्व और पर के अंशों को ही हम भूत और भविष्यत् कर देते हैं।[197] वास्तव में तो केवल अतीत की ही सीमा किसी अंश तक निश्चित की जा सकती है। भविष्यत् को तो काल कहना भी उचित नहीं।[198] फिर भी लोक-व्यवहार की सुविधा के लिए हम तीन विभाग मान लेते हैं।[199] इसका सबसे उपयुक्त उदाहरण है वर्तमान-सामीप्य का, जिसका अस्तित्व भूत और भविष्य दोनों के ही गर्भ में स्थित रहता है। इसकी पकड़ में आने वाले दोनों अंशों को हम क्रमशः भूत और भविष्य के रूप में भी कह सकते हैं और वर्तमान के रूप में भी।[200]

6. **संख्या और वचन** : संख्या और तदाश्रित वचन का आधार दिक् पर ही है। कारण यह है कि संख्या जन्म लेती है, एकत्व-नानात्व की कल्पना से। यह कल्पना आश्रित होती है, भेदाभेद या परापरत्व की भावना से।[201] ये दोनों भावनाएं जन्म लेती हैं दिक् से।[202] दिक् की अखंडता एकत्व का हेतु बनती है। किंतु सीमाओं में खंडकल्पना या भागकल्पना जागते ही नानात्व की स्थिति आ जाती है। यह नानात्व पूर्वापरत्व, भेदाभेदत्व या परापरत्व पर आश्रित रहता है। और ये सब परस्पराश्रित विभेद हैं। भेद अपनी सत्ता के लिए अभेद पर, पूर्व पर, तथा अपर पर आश्रित हैं। अतः जिसे हम एकत्व कहते हैं, वह भी नानात्व की अपेक्षा में ही रहता है।[203] यदि नानात्व न हो तो एकत्व की भी स्थिति नहीं होती।[204] दूसरे शब्दों में, यदि एकत्व नहीं है, तब द्वित्व आदि की कल्पना भी नहीं हो सकती; क्योंकि भेद और संख्या का आधार इस एकत्व पर स्थित है। इसके बिना अन्य संख्याएं संभव ही नहीं होतीं।[205] इस प्रकार वास्तव में द्विवचन या बहुवचन आदि की सत्ता दो एकत्व या बहुतसे एकत्व इत्यादि के रूप में ही रहती है।[206] यहीं यह बात भी समझने योग्य है कि गणना की सुविधा के लिए हम कुछ संख्या-संघों की कल्पना कर लेते हैं। दस, बीस, तीस, चालीस आदि इसी प्रकार के संघ हैं, जो स्वतः एक दस, दो दस, तीन दस आदि के भेद से नवति या नब्बे तक माने जाते हैं।[207] जब हम एकादश, एकविंशति आदि कहते हैं, तब हम इन्हीं संघों में एक, दो आदि को जोड़ते

जाते हैं। इस प्रकार मूलगणना नौ तक ही सीमित रहती है। दस को हम एक संघ मान लेते हैं। फिर ये दस भी नौ दस या नब्बे तक ही गिने जा सकते हैं। 'दस दस' होते ही एक नया संघ मान लिया जाता है : शत। फिर इसी के क्रम में अन्य संघों की कल्पना की जाती है।[208] इसीलिए विंशति की मूल कल्पना 'द्वि+दश' से मानी गई है। यह दश-पद्धति ही दशमलव कल्पना का आधार बनती है, जिनमें एक से नौ तक की संख्याएं दस के एक संघ की अंश-भूता मानी जाती हैं। सच तो यह है कि ग्यारह, इक्कीस आदि में हम एक+दस, दो+दस आदि अंशों को मान रहे हैं। इस प्रकार हम उससे दो भागों की कल्पना करते हैं : पूर्ण संघ का अंश। अतः ११ और २१ आदि लिखकर ग्यारह और इक्कीस को व्यक्त करते हुए हम एक ही संख्या को दो भागों में विभाजित करते हैं : पहले तो पूर्ण संघ के रूप में, तब अंशभूत अवशेष के रूप में।[209] यद्यपि सत्य यह भी है कि बीस, तीस आदि कहते समय हम दो दस, तीन दस आदि की मूल भावना को भूलकर उन्हें एक नए संख्या-संघ के रूप में व्यवहृत कर रहे होते हैं।[210] वास्तव में ये संख्यावाचक शब्द संज्ञामात्र हैं, जिनका कार्य किसी समूह का संख्यान कराना मात्र होता है।[211] संख्या का संबंध सामान्यतः द्रव्य या नाम से है।[212] कर्त्ता के संख्याश्रित वचन के अनुसार ही क्रिया के वचन का भी प्रयोग किया जाता है। अन्यथा, क्रिया में संख्या का प्रश्न नहीं उठता।

7. **साधन का कारक** : मूलतः छह कारक माने जाते हैं : कर्त्ता-कर्म-करण-सम्प्रदान-अपादान और अधिकरण। शेष या संबंध कारक इससे किंचित् भिन्न स्थिति का है।[213] हेतु कर्त्ता का ही भेद है।[114] संबोधन को कारकों में न गिनना ही उचित है।[215] उक्त छहों कारकों को हम मूलतः कर्तृत्व के छह भेद ही मान सकते हैं।[216] वास्तव में इन सभी कारकों का योगदान भी क्रिया के निष्पादन में कर्त्ता के तुल्य ही होता है। अंतर यही है कि कर्तृत्व के ही भेद होते हुए भी कर्तृ-भिन्न पांचों कारक कर्त्ता द्वारा निष्पाद्यमान मुख्य क्रिया में अपनी-अपनी गौण क्रियाओं के द्वारा योगदान देते हैं। इस प्रकार एक ओर वे अपने कर्तृत्व को कर्त्ता के अधीन कर देते हैं, दूसरी ओर उनकी क्रियाएं गौण होकर मुख्य क्रिया में ही समाहित हो जाती हैं। परिणामतः वाक्य-प्रयोग में हम केवल मुख्य क्रिया की ही अभिव्यक्ति पाते हैं, जबकि अन्य कर्त्ता मुख्य कर्त्ता से अपने नए संबंधों को समन्वित करके उसके साधन बन जाते हैं।[217] यह स्थिति उसी समय परिवर्तित हो जाती है, जिस क्षण इन तथाभूत गौण कारकों में से कोई भी कारक मुख्यता ग्रहण कर लेता है। उस समय उसके द्वारा अनभिहित निष्पाद्यमान क्रिया मुख्य बनकर अभिधेय हो जाती है।[218] तब वह भी स्वतंत्र कर्त्ता हो जाता है।[219] कर्त्ता को स्वतंत्र कहने का अर्थ है, अन्य कारकों की भांति

वह किसी अन्य कारक के प्रति परतंत्र नहीं होता, बल्कि अभिहित क्रिया के निष्पादन में वह अन्य साधनों या सहायकों के बिना भी समर्थ हो सकता है।[220] अन्य कारक उसकी तुलना में उसके द्वारा निष्पाद्यमान क्रिया की दृष्टि से गौण या परतंत्र होते हैं।[221] संबंध कारक के विषय में यह विशेष है कि वह भी मूलतः अन्य कारकों की भांति क्रिया-कारक ही होता है, यद्यपि प्रयोगावस्था तक पहुंचते हुए वह स्पष्टतः किसी क्रिया से संबद्ध न रहकर मूलकर्त्ता या अन्य कर्तृत्वयुक्त कारक से संबद्ध हो जाता है।[222] संबोधन में कर्तृत्व का निवास नहीं करता। उसका मुख्य कार्य है, कर्त्ता के प्रति अभिमुखीभाव।[223]

ये सभी कारक अपनी सत्ता के लिए दिक् पर आधारित होते हैं[224], यद्यपि साधन (कारक) स्वतः दिक् के समक्ष ही शब्द की एक शक्ति है।[225]

8. **पुरुष और चित्** : नाम में **साधन** या कारक की जो स्थिति है, आख्यात या क्रिया में वही स्थिति **पुरुष** की है। दोनों का ही संबंध कर्त्ता से है। किंतु कारक का आधार दिक् पर है, जबकि पुरुष का आधार चित् पर है। चित् नित्य, अविभाज्य और अविच्छेद्य है।[226] दिक् और काल को इसके समान ही अविच्छेद्य कहा गया है।[227] इस पर भी वक्ता अपने अहम् को केंद्र बनाकर समस्त चित् को आत्म और पर के दो विभागों में विभक्त मानकर आत्माभिव्यक्ति करता है। स्वयं को वह **आत्म** या केंद्र मान लेता है, शेष चित् को वह पर मान लेता है।[228] आत्म की अभिव्यक्ति उत्तम पुरुष के रूप में की जाती है। पर की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार की हो जाती है। इनमें से प्रत्यक्ष चित् को मध्यम पुरुष के द्वारा व्यक्त किया जाता है[229], अप्रत्यक्ष चित् प्रथम पुरुष या अन्यपुरुष का विषय ठहरता है। किंतु यह ध्यान देने योग्य है कि क्रिया की दृष्टि से अचित् भी अप्रत्यक्ष चित् के ही समकक्ष ठहरता है। अर्थात् उन दोनों की अभिव्यक्ति प्रथम पुरुष के ही माध्यम से होती है।[230] इसीलिए मूलतः कर्तृत्व को चित् और अचित् के भेद से भिन्न माना जाता है। चित् को द्विधा-भिन्न मानकर पर के दो भेद प्रत्यक्षादि के रूप में स्वीकार किए जाते हैं। इनमें से आत्म-चित् को **उत्तम पुरुष**, प्रत्यक्ष पर-चित् को मध्यम पुरुष, एवं अप्रत्यक्ष पर-चित् तथा अचित् को प्रथम पुरुष के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है।[231]

9. **उपग्रह** : किसी साध्यावस्था या क्रिया को जब अन्याभिमुख या कर्त्ताभिमुख फल की दृष्टि से वर्णित किया जाता है, तब उसके इस भेद की सूचना उपग्रह के प्रयोग द्वारा दी जाती है।[232] कर्त्ताभिमुख फल को आत्मनेपद सूचित करता है, अन्याभिमुख को परस्मैपद।[233] एक ही क्रिया का प्रयोग दोनों प्रकार से संभव होने पर उसका प्रयोग यथायोग्य दोनों उपग्रहों में हो सकता है।[234] वस्तुतः यह उपग्रह भी चित् के आत्म-पर-विभाग पर ही आश्रित है। इसकी

अभिव्यक्ति तिङ् और कृत् दोनों ही प्रत्ययों में हो सकती है।[235]

10. **लिंग** : लिंग के संख्यात्मक या द्रव्यात्मक विभाजन के पीछे एक सर्वमान्य या निश्चित सिद्धांत नहीं है।[236] केवल लिंग-भेद के कारण ही अर्थ-भेद नहीं हो जाता। पर जब एक ही पद विविध लोगों में प्रयुक्त होता है, तब उसका हेतु कोई-न-कोई भाव-भेद ही होता है।[237] लिंग-संख्या तीन होने पर भी प्रयोक्ता उसे भिन्न-भिन्न रूप में प्रयोग करते हैं।[238] नपुंसक को पुम् और स्त्री के मध्य की एक स्थिति मान लिया जाता है।[239] वास्तव में सारी लिंग-कल्पना ही विवक्षाश्रित और बुद्ध्याश्रित होती है। अतः लिंग के प्रयोगभेद के पीछे भावात्मक भिन्नता या सुरुचि होना आवश्यक है।[240] भिन्नलिंगात्मक शब्द व्याकरण की दृष्टि से एक ही समान होकर भी भिन्नात्मा होते हैं।[241] अतः उन्हें **नाम्ना** गिनना ही उचित है।[242] पुंलिंग की मूल भावना हैं—प्रसव और आविर्भाव, जबकि स्त्रीलिंग की मूलभावना संस्त्यान और तिरोभाव हैं।[243] लिंगविनिश्चय सर्वदा ही सामान्य लक्षणों के आधार पर नहीं किया जाता।[244]

11. **समास और वृत्ति** : संपूर्ण समास-रचना का अस्तित्व **एक पद** के ही समान है।[245] जिस प्रकार पद-कल्पना अपोद्धार पर आश्रित है, उसी प्रकार समास में पदों की स्थिति भी अपोद्धार पर ही आश्रित होती है।[246] अतएव वह निरर्थक एवं अव्यावहारिक कल्पनामात्र ही है।[247] इसलिए समास में भी पदों की स्थिति मानकर उनमें पदभेद, प्रत्ययलोप आदि जैसी अवास्तविक स्थिति को भी व्यवहारतः अपनाना पड़ता है।[248] इस दृष्टि से वाक्य और समास में अंतर भी अवास्तविक ठहरता है।[249] वाक् की अविभाज्य इकाई है—**वाक्य**। समास का अंतर्भाव उसमें सामान्य पदों की ही भांति हो जाता है। प्रत्ययहीनता, प्रत्ययसंयोगादि की बात पद से ही संबद्ध होती है। अतः वाक्य के रहते समासाश्रित वृत्ति का विचार केवलमात्र तर्काश्रित एवं महत्त्वहीन ही कहा जा सकता है। स्पष्ट है कि वृत्ति में आ जाने वाली अधिकतर शब्दराशि मात्र कल्पित होती है। यही बात लिंग-वचन-विभक्ति आदि एवं अलंकार-विधान आदि के संबंध में भी है।[250]

× × ×

ये हैं वे कुछ चुनी-चुनी बातें, जिन्हें हम भर्तृहरि की **भाषाविज्ञान** एवं **व्याकरण को देन** के रूप में कह सकते हैं। इनके अतिरिक्त अनेक चमत्कारी बातें ऐसी भी हैं, जिन्हें यहां गिनाने का अवकाश नहीं है।

पाद-टिप्पणियां

1. दे० मीमांसक का 'सं० व्या० शा० इतिहास' एवं सत्यकाम वर्मा का 'सं० व्या० उद्भव और विकास'।

2. डॉ० वर्मा, दे० 'स्टडीज इन इंडोलॉजी', पृ० 249 से 256।
3. म० टी०, प्रथम आह्निक।
4. वा० 1.30
5. वा० 1.27
6. म० टी०, प्र० आ०।
7. वा० 1.155
8. लाहौर से 1943 ई० में प्रकाशित संस्करण की भूमिका।
9. कैयट के 'प्रदीप', भट्टोजि के 'शब्दकौस्तुभ', एवं कौण्डभट्ट के 'वैयाकरण भूषण' के प्रारंभिक श्लोकों में यह तथ्य स्पष्टरूप से उल्लिखित है।
10. इस विषय में अधिक विचार के लिए देखें लेखक का 'सं० व्या० का उद्भव और विकास'।
11. वा० 1.1
12. वा० 3.1
13. वा० 3.1
14. तु०, वा० 1.30, 1.40 इत्यादि।
15. वा० 1.43।
16. वा० 1.156।
17. 'तत्त्वं, वाक्यं, पदं चाधिकृत्य कृतो ग्रंथो वाक्यपदीयम्'।
18. वा० 2.486
19. म० टी० 1.1.1
20. वा० 1.50; 'आत्मरूप…'
21. दे०, म० टी० 1.1.1
22. वही।
23. वही।
24. वा० 1.75
25. वा० 1.77
26. वा० 1.102
27. वा० 1.104
28. वा० 1
29. वा० 1.45
30. वा० 1.92
31. म० टी० 1.1.1
32. वा० 1
33. वा० 1.144

34. वा० 1.29
35. वा० 1.145
36. म० टी० 1.1.1
37. वा० 1.12
38. वा० 1.10
39. वा० 1 22
40. वा० 1.139
41. म० टी० 1.1.1
42. वा० 1.155
43. वा० 1.150
44. म० टी० 1.1.1
45. वा० 1.27
46. म० टी० 1.1.1
47. म० टी० 1.152
48. म० टी० 1.1.1
49. वा० 1.147, 148, 156, 153
50. म० टी० 1.1.1
51. वा० 1.156
52. म० टी० 1.1.1
53. वा० 1.27
54. म० टी० 1.1.1
55. सम्बन्ध समुद्देश
56. म० टी० 1.1.1
57. वा० 3.3 (सम्बन्धसमुद्देश)
58. म० टी० 1.1.1
59. वा० 1.25
60. म० टी० 1.2.2
61. वा० 1.76, 76(क), 77 इत्यादि
62. नि० 1.1.1
63. अधिक विस्तार के लिए, 'औदुम्बरायण : महान भाषाशास्त्री', ('भारतीय भा० वि० की भूमिका' में लेखक का लेख)।
64. अधिक विस्तार के लिए देखें, लेखक द्वारा लिखित, 'सं० का० उद्भव और विकास'।
65. म० टी० 1.1.1
66. म० टी० 1.1.1

67. वा० 3.1.3
68. म० टी० 1.1.2
69. म० टी० 0.1.3
70. म० टी० 1.1.4
71. वा० 1.23
72. म० टी० 1.1.4
73. म० टी० 1.1.1
74. म० टी० 1.1.2
75. वा० 2.48
76. 'पारम्पर्येणाविच्छिन्न···' म० टी० 1.1.1
77. अधिक विस्तार के लिए देखें, लेखक का 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' (शोध-प्रबंध)।
78. अधिक विस्तार के लिए देखें, लेखक का 'भाषातत्त्व और वाक्यपदीय' (शोध-प्रबंध)।
79. विस्तार के लिए देखें, लेखक का 'व्या० दार्श० भूमिका'।
80. विस्तार के लिए देखें, लेखक का 'व्या० दार्श० भूमिका'।
81. नि० 1.1.1
82. विस्तार के लिए देखें, 'व्या० दा० भूमिका', सत्यकाम वर्मा।
83. वही, संबद्ध स्थल।
84. देखिए, 'शब्द का महत्त्व', (पृ० 105 से 116), भा० वाक्य०।
85. वही
86. मी० 2.1.46 : 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्'।
87. विस्तार के लिए देखें, 'भा० वाक्य०'।
88. देखें, 'व्या० दार्श० भूमिका' का 'पुरुष और उपग्रह' अध्याय।
89. वाक्यपदीय, 1.20
90. वा० 1.21
91. वा० 1.124, 127
92. वही, 1.1.121
93. वही, 1.123
94. वही, 1.53
95. वही, 3.3.33
96. वही, 1.152, तथा म० त्रि०, 1.1.1
97. वही, 1.155, एवं म० त्रि० 1.1.1 : "प्रकृतौ भवाः प्राकृताः।···इयं दैवी वाक्।"
98. वही, 1.142, एवं म० त्रि० 1.1.1 : "शिष्टप्रयोगमभिसमीक्ष्य प्रकृतिरूहितव्या प्रत्ययश्च।"
99. वही, 1.142

100. वाक्य०, 1.27
101. म० त्रि० 1.1.1 : "पारम्पर्येणाविच्छिन्न उपदेश आगमः। श्रुतिलक्षणः स्मृतिलक्षणश्च सः।" एवं वाक्य०, 1.145
102. वाक्य०, 1.132 134
103. वही, 1.145
104. वही, 1.7, 145, 146
105. वही, 1.142, 145
106. वही, 1.27, आदि
107. वही, 1.27, 153, 156
108. वही, 1.27, 148, 153
109. वही, 1.27
110. वही, 1.152
111. वही, 1.150-54
112. वही, 1.148
113. वही, 1.153-54
114. वही 1.155
115. वही, 1.156(अ)
116. वही, 1.27, 140, 142, 145
117. वही, 1.27, 140, 142
118. वही, 1.27
119. वही, 1.145
120. वही, 1.142, 145
121. वही, 1.133, 134, 145
122. वही, 1.143
123. वही, 1.1, 121
124. वही, 1.11, 132
125. वही, 1.11
126. वही, 1.22, 132
127. वही, 2.40
128. वही, 1.73, 2.28
129. वही, 2.28, 40
130. वही, 1.73, 2.2.28-31
131. वही, 1.73
132. वही, 2.30, 347, 422
133. वही, 2.219, 422

134. वाक्य०, 2.11
135. वही, 2.9
136. वही, 1.75, 77, 81
137. वही, 1.103
138. वही, 2.4, 2.13
139. वही, 3.3.86
140. वही, 2.330
141. वही, 2.1; एवं म० त्रि०, 1.1-2
142. वही, 2.408
143. वही, 2.254, 257, 407
144. वही, 2.316-18
145. वही, 2.266-67
146. वही, 2.265
147. वही, 2.267, 280, 338
148. वही, 3.3.39-50
149. वही, 3.3.53
150. वही, 2.13, 90, 422, 427
151. वही, 3.427-28, 448
152. वही, 2.319, 347
153. वही, 1.86, 2.417
154. वही, 2.408-9
155. वही, 3.1.6, 14
156. वही, 1.69
157. वही, 3.1.19, 20, 29
158. वही, 3.1.3.48; 3.8.21, 24
159. वही, 3.1.36, 3.8.25
160. वही, 3.1.49, 60,65-88
161. विस्तार के लिए देखें व्याक० दार्श०, 6-26 से 6-34 तक एवं वाक्य० 3.1.12, 19
162. वाक्य०, 3.5.1-3
163. वही, 1.63 65; 3.5.1-3 .
164. वही, 3.8.1,48
165. वही, 3.8.4-6
166. वही 3.1.35, 3.8.3-4
167. [illegible] 3.1.36, 3.8.12

168. वाक्य०, 3.8.5, 11, 38
169. वही, 3.8.48
170. वही, 3.1.45, 3.8.30
171. वही, 3.8.4-6, 18
172. देखें, व्या० दार्श०, पृ० 254.5
173. वाक्य०, 3.8.9, 11-12, 15
174. वही, 3.8.4-6, 18
175. वही, 3.6.1
176. वही, 1.3
177. वही, 3.6.2, 3
178. वही, 3.6.2, 13, 14
179. वही, 3.6.14
180. वही, 3.6.18 तुलनीय, वै० भा० "कालखात्मदिशां स्थगितत्वं परमं महत्।" देखें, व्या० दार्श०, पृ० 299 : 9-3-1
181. 3.6.4, 6
182. वही, 3.6.4
183. वही, 3.6.5
184. वही, 3.6.2, 21
185. वही, 3.6.11-3
186. वही, 3.6.20-1
187. वाक्य०, 3.6.17, 18
188. वही, 3.6.24, 26
189. विशेष विवरण के लिए देखें व्याक० दार्श०, 9.4 से 9.10, एवं 12.23 से 12.25
190. वाक्य०, 3.9.70 एवं व्याक० दार्श०, 12.18, 19
191. वाक्य०, 2.7, 13 एवं व्याक० दार्श०, 3.15
192. व्याक० दार्श०, 9.15, 16
193. वाक्य०, 3.6.17, 18
194. वही, 3.6.18
195. वही, 3.9.38, 46-48
196. वही, 3.9, 109, 113
197. वही, 3.9.101-3
198. वही, 3.9.51
199. वही, 3.9.102
200. वही, 3.3.131 एवं व्याक० दा ० 12.13, 14

201. वाक्य० 3.11.1, 2, 4, 12 ग्रादि तथा 3.6.9, 16
202. वही, 3.6.24 से 28
203. वही, 3.6.26
204. वही, 3.6.29
205. वही, 3.11.15, 16
206. वही, 3.11.15, 16
207. वही, 3.11.19
208. वा० सं०, यजु०, 17.2 में ये संघ इस रूप में गिनाए गए हैं : दश, शत, सहस्र, ग्रयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अंत ग्रौर परार्ध ।
209. वाक्य०, 3.11.20 तथा व्या० दार्श०, 10.10
210. वाक्य०, 3.11.22-34
211. वही, 3.111.5, 26
212. वही, 3.1.51, 3.11.1,12
213. वही, 3.7.156
214. वही, 3.7.125
215. वही, 3.7.163,6
216. वही, 3.7.37,44
217. वही, 3.7.20-23
218. वही, 3.7.21, 22
219. वही, 3.7.21
220. वही, 3.7.101-3, 122.3
221. वही, 3.7.22-3
222. वही, 3.7.156
223. वही, 3 7.163, 166-7
224. देखें, व्या० दार्श०, पृ० 312 से 315
225. वाक्य०, 3.9.1
226. वही, 1.41
227. वही, 3.6.18
228. वही, 1.10.1
229. वही, 3.10.1.2
230. वही, 3.10.3
231. वही, 3.10.1, 3
232. वही, 3.12.1-2, 5, 9
233. वही, 3.12.1, 5, 9

234. वाक्य०, 12.6-7, 20, 23-27
235. वही, 10.3, 12.1
236. वही, 3.13.1-4
237. वही, 3.13.12-14, 29
238. वही, 3.13.19, 23
239. वही, 3.13.13-14, 17, 27
240. वही, 3.13.19
241. वही, 3.13.20-23
242. वही, 3.13.29
243. वही, 3.13.13, 17। साथ ही देखें, व्याक० दार्श०, पृ० 452।
244. वही, 3.13-20, 31
245. वही, 2.14 15, 16 एवं पा० 1.2.46
246. वही, तुल० 3.1.1, 3.14, 49, 74-5, 96
247. वही, 3.14.33 4
248. वही, 3.14.74-81
249. वही, 3.14.49.51
250. विस्तृत विवेचन के लिए देखे, व्याक० दार्श०, अंतिम ग्रध्याय वृत्ति या भावना'

3

सस्यूर और आधुनिक भाषाविज्ञान

रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव

(1)

सस्यूर का नाम आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक के रूप में लिया जाता है। भाषा की प्रकृति को लेकर जिस प्रकार के प्रश्नों को उन्होंने उभारा और जिस सैद्धांतिक संदर्भ के साथ उनके उत्तर ढूढ़ने का उन्होंने प्रयत्न किया, उसने न केवल भाषाविज्ञान की आधारभूत मान्यताओं को आधुनिक संदर्भ दिया, बल्कि मानविकी के अन्य क्षेत्रों को भी उसने दूर तक प्रभावित किया। आज जिस 'संरचनावाद' (Structuralism) अथवा 'प्रतीकविज्ञान' (Semiology) की चर्चा चल रही है, उसकी आधारशिला सस्यूर ने ही रखी थी। इसी प्रकार आधुनिक भाषाविज्ञान की अधिकांश मूलभूत संकल्पनाओं का बीज भी सस्यूर ने ही रोपा था। आधुनिक बौद्धिक चिंतन के इतिहास-निर्माण में इसीलिए सस्यूर का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा मिलता है।

यह अत्यंत आश्चर्य का विषय है कि आधुनिक चिंतनधारा को दिशा एवं रूप देनेवाले सस्यूर ने स्वयं ऐसा कुछ भी नहीं लिखा जिससे उनकी ख्याति बढ़े। उन्होंने अपने पीछे अप्रकाशित रचनाओं का ऐसा पुलिंदा भी नहीं छोड़ा जिससे उनके कृतित्व का पता चले। कुछ थोड़े-से शोध-लेखों के अतिरिक्त उनके हाथ का लिखा कुछ भी प्रकाशित नहीं। वस्तुतः भाषाविज्ञान एवं मानविकी के अन्य क्षेत्रों को उनकी जिस वस्तु ने प्रभावित किया, वह है जेनेवा विश्वविद्यालय में प्रोफेसर पद से कक्षाओं में दिये गये कुछ अध्यापकीय भाषण। सस्यूर ने 1907 से 1911 के बीच में सामान्य भाषाविज्ञान विषय पर कक्षाएं ली थीं। उनकी मृत्यु के उपरांत उनके कुछ शिष्यों ने 1913 में यह निश्चय

किया कि कक्षा में लिए गए 'नोट' के आधार पर अपने अध्यापक सस्यूर के नाम से सामान्य भाषाविज्ञान की पुस्तक प्रकाशित की जाए। यही सामान्य भाषाविज्ञान की पुस्तक (Cours de linguistique generale=Course in General Linguistics) सबसे पहले सन् 1916 में बैली (C. Bally) और सेचेहाये (A. Sechehaye) के संपादकत्व में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के बारे में आगे चर्चा की जाएगी, पर यहां यह उल्लेख कर देना अनुचित न होगा कि सस्यूर की जो ख्याति आज है और चिंतक के रूप में जो उनकी प्रतिष्ठा है, वह वस्तुतः उनके दो सहयोगियों द्वारा संपादित सामान्य भाषाविज्ञान-संबंधी इसी पुस्तक के कारण है।

(2)

व्यक्तित्व

सस्यूर का पूरा नाम फर्दिनेंड द सस्यूर (Ferdinand de Saussure) है। इनका जन्म सन् 1857 में जेनेवा में हुआ था। इनके परिवार में प्राकृतिक विज्ञान में विशेषता प्राप्त करने की परंपरा थी। सस्यूर के पिता स्वयं एक जाने-माने वैज्ञानिक थे। पर सस्यूर की रुचि भाषा सीखने की ओर भी थी। इसी कारण जेनेवा विश्वविद्यालय में 1875 में भौतिक शास्त्र और रसायन-शास्त्र में प्रवेश पाने के पहले ग्रीक भाषा के साथ-साथ फ्रेंच, जर्मन, अंग्रेजी और लेटिन भाषाओं से वे परिचित हो चुके थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के पहले वे 'भाषाओं की सामान्य व्यवस्था' (Essai sur les langues) नाम से 1972 में अपना लेख भी लिख चुके थे। पंद्रह वर्ष की आयु में लिखे अपने इस लेख में उन्होंने यह दिखलाने का प्रयास किया था कि संसार की सभी भाषाओं के मूल में तीन आधारभूत व्यंजनों की व्यवस्था है।

यह भाषा-अध्ययन के प्रति लगाव का ही परिणाम था कि विश्वविद्यालय में प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश लेने के उपरांत भी वे पेरिस के भाषा-वैज्ञानिक संघ के सदस्य बने। एक साल के भीतर ही उन्हें यह लगने लगा कि प्राकृतिक विज्ञान का अध्ययन-क्षेत्र उनकी रुचि का विषय नहीं है। उन्होंने अपने माता-पिता को इस बात के लिए मना लिया कि उन्हें भारोपीय भाषाओं के उच्च अध्ययन के लिए लेपजिग विश्वविद्यालय में भेजा जाए। जिस समय सस्यूर ने लेपजिग जाने का निर्णय लिया उस समय क्लासिकी भाषाओं के अध्ययन के लिए जर्मनी सबसे अधिक उपयुक्त स्थान था। लेपजिग विश्वविद्यालय स्वयं में 'नव्य-व्याकरणकारों' (Junggramitiker=Neo-grammarians) के कार्यस्थल के रूप में स्वीकृत हो चुका था। नव्य-व्याकरणकारों में प्रमुख 'ब्रुगमान' उस समय इसी विश्वविद्यालय में पढ़ा रहे

थे। सस्यूर को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि ब्रुगमान जिस 'नासिक्य अनुवाद' (nasal sonans) के नियम की चर्चा कर रहे हैं, उसी दिशा में वैसे ही नियम की खोज वे पहले कर चुके थे, पर उसे प्रकाशित उन्होंने केवल इसलिए नहीं किया था कि उनके द्वारा प्रतिपादित यह नियम, उस समय के मान्य चिंतन के प्रतिकूल था। यह बात अवश्य थी कि नव्य-व्याकरणकारों के बीच आकर उन्हें न केवल भाषा-चिंतन की कुछ नई दिशाएं मिलीं अपितु जिस दिशा में वे भाषा-संबंधी अनुसंधान कर रहे थे उसके प्रति उन्हें आत्मविश्वास भी बढ़ा।

जर्मनी में सस्यूर लगभग चार वर्ष तक छात्र के रूप में रहे। लगभग डेढ़ वर्ष वे बर्लिन में थे, शेष समय लेपजिग में ही अध्ययन करते हुए उन्होंने बिताया था। जर्मनी में रहते हुए उन्होंने 1878 में यूरोपीय भाषाओं की आधारभूत स्वर-व्यवस्था (Memoire sur le systeme primitif des voyelles dans les langues indo-europeans=Memoir on the Primitive System of Vowels in Indo-European Languages) नामक अपना प्रसिद्ध लेख प्रकाशित किया। यह लेख उन्होंने उस समय लिखा जब उनकी उम्र केवल २१ वर्ष की थी। इस लेख में उन्होंने अपने समय की अनेक आधारभूत संकल्पनाओं पर न केवल सैद्धांतिक प्रहार किया था वरन् भाषा-संबंधी अनुसंधान के क्षेत्र में प्रणालीगत विश्लेषण की बात भी उठाई थी। 'तुलनात्मक भाषाविज्ञान' (comparative philology) और 'ऐतिहासिक भाषाविज्ञान' (historical linguistics) के बीच के संबंधों के आधार पर लिखे इस लेख को उस समय के छोटे-बड़े सभी भाषाविदों ने सराहा। अधिकांश विद्वानों को तो यह विश्वास भी नहीं हो पा रहा था कि 21 वर्षीय यह नवयुवक ही इस विचारोत्तेजक लेख का लेखक है। जब सस्यूर बर्लिन से लेपजिग पहुंचे, तब एक प्रोफेसर ने उन्हीं से यह पूछा था कि क्या तुम उपर्युक्त लेख के प्रसिद्ध स्विस लेखक सस्यूर से किसी प्रकार संबंधित हो। विद्वत्ता के क्षेत्र में यह लेख उनके लिए पहला दीपस्तंभ बना जिसके प्रकाश में उनके नाम से लोग परिचित हुए। दूसरा कीर्तिस्तंभ था डॉक्टरेट उपाधि के लिए प्रस्तुत उनका शोध प्रबंध। उनके शोध विषय का संबंध 'संस्कृत भाषा में सबंधकारक की प्रकृति और प्रयोग' से था (De l'emploi de genetif absolu en sanskrit=The Use of Genetive in Sanskrit)। डॉक्टरेट की उपाधि के बाद सस्यूर जर्मनी में और नहीं रुके, क्योंकि उन्हें जर्मनी का सामाजिक और शैक्षिक वातावरण अधिक रास नहीं आया।

सन् 1880 में सस्यूर जर्मनी छोड़कर फ्रांस आये। पेरिस में उन्होंने लगभग दस वर्षों (1881–90) तक ऐतिहासिक भाषाविज्ञान का अध्यापन किया।

संस्कृत, गाथिक, प्राचीन जर्मन के अतिरिक्त उन्होंने यूरोपीय भाषाओं को अपने अध्ययन-अध्यापन का क्षेत्र चुना था। वस्तुतः अपने पेरिस प्रवासकाल में सस्यूर भाषाविज्ञान से संबद्ध गोष्ठियों में सक्रिय भाग लेते रहे। पेरिस की भाषाविज्ञान-संबंधी संस्था (Societe de linguistique de Paris) के सदस्य तो वे १८७६ में ही बन चुके थे। जर्मनी से लौटने के बाद उसके एक सक्रिय सदस्य के रूप में नवयुवक भाषाविद् समाज में सस्यूर ने एक महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था पर जब जेनेवा में उन्हें 1891 में प्रोफेसर पद के लिए निमंत्रण मिला, तब उन्होंने बिना किसी दुविधा के स्विट्ज़रलैंड लौटने का निर्णय ले लिया। पेरिस के उनके सहयोगी विद्वानों ने उन्हें रोकने के लिए कई ढंग से प्रयास किया, उन्हें यहां भी 'प्रोफेसर' पद से सम्मानित करने की कोशिश की, पर सस्यूर अपनी मातृभूमि लौटने का अंतिम निर्णय ले चुके थे जिसे धन और पद संबंधी कोई भी प्रलोभन बदल नहीं सका।

इसमें संदेह नहीं कि जेनेवा में भाषाविज्ञान का शैक्षिक वातावरण पेरिस जैसा न था। यहां न तो उस समय कोई प्रसिद्ध भाषाविद् था जिससे वे मुक्त भाव से विचार-विनिमय कर सकते और न ही भाषाविज्ञान के क्षेत्र में प्रशिक्षित शोध-छात्रों का ही कोई वर्ग था जिसको अपने निर्देशन में प्रशिक्षित करते। वैसे जेनेवा विश्वविद्यालय में पढ़ाने के लिए उन्हें दो विषय दिए गए थे—संस्कृत भाषा और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान। उनके सहयोगी प्रोफेसर के सेवानिवृत्त होने के बाद ही उन्हें सन् 1907 में पहली बार 'सामान्य भाषाविज्ञान' विषय पढ़ाने का अवसर मिला। एक-एक वर्ष के अंतराल पर उन्होंने इस विषय को 1907, 1909 और 1911 में तीन बार पढ़ाया। यह भाषणमाला ही उनकी प्रसिद्ध पुस्तक का आधार बनी, जिसे उनके दो प्रबुद्ध सहयोगियों—बेली और सेचहाये ने 'Cours de linguistinque generale' नाम से 1916 में संपादित किया।

संपादन का यह काम कोई मामूली न था। सस्यूर के अपने 'नोट्स' नहीं के बराबर थे, अतः संपादकों को सस्यूर के छात्रों द्वारा लिये गये उनके अध्यापकीय भाषणों के 'नोट्स' का ही एकमात्र सहारा लेना पड़ा। दूसरी कठिनाई यह भी थी कि तीन बार के भाषणों में न तो सस्यूर ने विषयक्रम को एक रखा था और न ही विषय-वस्तु को एक ही दृष्टि से देखा था। हर वर्ष उन्होंने अपने पाठ-बिंदुओं का अभिविन्यास भिन्न रखा था, पुस्तक के संपादक-द्वय में से किसी एक ने भी सस्यूर की कक्षाओं में बैठकर भाषण नहीं सुना था, अतः उन्हें अपनी सूझ-बूझ के अनुसार ही भाषणों को रूप देना पड़ा। उन्होंने छात्रों के 'नोट्स' के रूप में सामान्य भाषाविज्ञान-संबंधी सस्यूर के बिखरे हुए विचारों को अपनी दृष्टि से ही क्रमबद्ध करके एक संश्लिष्ट रूप में ढाल दिया।

सामान्य भाषाविज्ञान-संबंधी इस पुस्तक का पहला संस्करण 1916 में और दूसरा 1922 में प्रकाशित हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद वेड बास्किन (Wade Baskin) ने किया जो सर्वप्रथम 1960 में प्रकाशित होकर सामने आया। सन् 1963 में मारो (Tullio de Mauro) ने इस पुस्तक का एक नया संस्करण संपादित किया जिसमें सस्यूर के छात्रों द्वारा लिए गए 'नोट्स' में मिलने वाले पाठ-भेदों की न केवल विस्तृत जानकारी दी गई है वरन् सस्यूर से संबद्ध जीवनीपरक सूचनाएं और महत्त्वपूर्ण विचारबिंदुओं पर उसमें विस्तृत टिप्पणी भी शामिल की गई है। एंगलर (Rudolf Engler) पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने इस पुस्तक के अपने संस्करण (1967–74) में सस्यूर के शिष्यों द्वारा लिये गये उन सभी 'नोट्स' के साथ पुस्तक को दो खंडों में प्रकाशित किया जिनके आधार पर बेली एवं सेचहाये ने सस्यूर के नाम से सामान्य भाषाविज्ञान-संबंधी इस पुस्तक की पाठ-सामग्री का निर्माण किया था।

सस्यूर की मृत्यु सन् 1913 के फरवरी महीने में हुई। मृत्यु के समय उनकी उम्र 53 वर्ष थी। अपने जीवनकाल में सस्यूर ने स्वयं बहुत कम लिखा। डॉक्टरेट उपाधि के लिए लिखे गये अपने शोध-ग्रंथ के अतिरिक्त उन्होंने कोई पुस्तक नहीं लिखी। उनकी स्वयं की लिखी सामग्री में शोध-ग्रंथ के अतिरिक्त केवल इने-गिने कुछ लेख हैं। 4 जनवरी, 1894 को लिखे हुए उनके अपने एक पत्र से यह संकेत अवश्य मिलता है कि वे भाषाविज्ञान पर एक सैद्धांतिक पुस्तक लिखना अवश्य चाहते थे। पुस्तक न लिख पाने के कारण का उल्लेख करते हुए उन्होंने अपने समय की लेखन-स्थिति पर प्रकाश भी डाला है। उन्हीं के शब्दों में, "संप्रति प्रचलित पारिभाषिक शब्दावली की अपरिपूर्णता, उसके सुधार की आवश्यकता और इनके साथ यह दिखलाने और प्रमाणित करने की जरूरत कि साध्य भाषा की अपनी वास्तविक प्रकृति क्या है—भाषा-संबंधी मेरे जिज्ञासु मन के सुख-संतोष में बराबर बाधक बनते रहे हैं, यद्यपि भाषा की सामान्य प्रकृति की खोज से अधिक प्रिय वस्तु मेरे लिए कुछ और नहीं रही है। निस्संदेह इस खोज का परिणाम मेरे लिए एक पुस्तक होगी जिसमें बिना किसी अतिरिक्त उत्साह या उछाह के यह दिखलाने का प्रयत्न करूंगा कि भाषाविज्ञान में इस समय प्रचलित एक भी ऐसा पारिभाषिक शब्द नहीं है जो मेरे लिए सार्थक हो। मैं यह मानता हूं कि ऐसा करने के बाद ही मैं उस जगह से आगे लिखने का अपना काम बढ़ा सकता हूं जहां पर आज मैं खड़ा हूं।"

सस्यूर ने स्वयं बहुत कम लिखा है। पर इतना कम लिखकर भी वे आज भाषा-चिंतन के क्षेत्र में अमर हैं। वे स्वयं इस बात के अनूठे उदाहरण हैं कि

एक अध्यापक-चिंतक के लिए अध्यापन, लेखन से अधिक प्रभावकारी हो सकता है।

(3)

सस्यूर का भाषा-सिद्धांत

सस्यूर के भाषा-सिद्धांत की वैज्ञानिक उपलब्धि और परवर्ती चिंतन-परंपरा में उसकी स्वीकृति के पीछे एक महत्त्वपूर्ण कारण है। पहला कारण यह है कि उन्होंने सबसे पहले सही ढंग के कुछ आधारभूत प्रश्न उठाए। उदाहरण के लिए उन्होंने यह पूछना चाहा कि उनकी अध्ययन-वस्तु एवं विश्लेषण-सामग्री (भाषा) की अपनी प्रकृति क्या है। इसके साथ ही उन्होंने न केवल भाषा-संबंधी अपने सिद्धांत को प्रतिपादित करना चाहा, बल्कि उन तक पहुंचने के लिए अपनी अध्ययन-प्रणाली को भी तर्कसंगत और वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया।

उदाहरण के लिए भाषा की आभ्यंतर प्रकृति को उसके उचित संदर्भ में समझने के लिए उन्होंने एक ओर 'प्रतीकविज्ञान' (semiology) की अवधारणा को सामने रखा और दूसरी तरफ स्वयं 'प्रतीक' (sign) की प्रकृति को समझने-समझाने का प्रयत्न किया। सस्यूर ने 'प्रतीकविज्ञान' पर विस्तार से प्रकाश नहीं डाला है पर उनकी यह मान्यता थी कि भाषा पर कोई गंभीर बात तभी उठाई जा सकती है जब हम भाषाविषयक अध्ययन को प्रतीकविज्ञान के संदर्भ में करने की ओर प्रवृत्त होंगे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि "भाषा प्रतीकों की व्यवस्था है, अतः उसको समझने के लिए प्रतीकों से संबंधित विज्ञान के अध्ययन का रास्ता अपनाना होगा।"

प्रतीकविज्ञान की संकल्पना

भाषा को सस्यूर मानवीय व्यवहार के एक अन्यतम उदाहरण के रूप में देखते थे, अतः वे मानव-व्यवहार के अन्य क्षेत्रों से काटकर उसे नहीं देखना चाहते थे। उनकी इस समग्र दृष्टि ने ही प्रतीकविज्ञान के क्षेत्र की कल्पना की। उन्हीं के शब्दों में—

"भाषा प्रतीकों की वह व्यवस्था है जिसके सहारे हम विचारों को व्यक्त करते हैं। इसी कारण इस व्यवस्था की तुलना लेखनपद्धति, गूंगे-बहरों द्वारा व्यवहृत वर्णमाला-व्यवस्था, प्रतीकात्मक कर्मकांड विधान, शिष्टाचार के नियम, सैनिक संकेत चिह्नों आदि के साथ करना संभव है। वस्तुतः इन विभिन्न क्षेत्रों के बीच भाषा की अपनी व्यवस्था सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।"

मानवीय व्यवहार की इन विभिन्न प्रतीकात्मक व्यवस्थाओं को ध्यान में

रखकर ही सस्यूर ने प्रतीकविज्ञान की संकल्पना को आगे बढ़ाया। उनका कहना था—

"इसीलिए हम एक ऐसे विज्ञान की कल्पना कर सकते है जो समाज के भीतर प्रतीकों के जीवंत प्रयोग एवं प्रकार्य का अध्ययन करता हो ! ···ग्रीक शब्द (semeion = प्रतीक) के आधार पर हम इसे प्रतीकविज्ञान (semiology) की संज्ञा दे सकते हैं।"

यह तथ्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जिस समय सस्यूर भाषा को 'प्रतीकों' की व्यवस्था के रूप में परिभाषित कर रहे थे, उस समय अध्ययन का कोई क्षेत्र 'प्रतीकविज्ञान' के रूप में मान्य नहीं था। इसलिए सस्यूर ने 'प्रतीकविज्ञान' के बारे में मात्र संकेत भर दिया है।

"यह (प्रतीकविज्ञान) हमें यह बताएगा कि प्रतीकों के मूलभूत तत्त्व क्या हैं, उनके नियामक एवं निर्धारक नियम क्या हैं। चूंकि ऐसे विज्ञान का आज कोई अस्तित्व नहीं है, हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि इस अध्ययन-क्षेत्र की प्रकृति क्या होगी। लेकिन इसकी स्थापना होनी है और भविष्य में इसकी सत्ता असंदिग्ध रूप से स्वीकृत होगी। भाषाविज्ञान, (प्रतीकों के) इस सामान्य विज्ञान का मात्र एक उपांग है क्योंकि प्रतीकविज्ञान के जो नियम होंगे, वे भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी लागू होंगे और इस प्रकार वे व्यवहार मात्र के एक विशिष्ट और निर्धारित कार्य-व्यापार से जुड़कर अपनी सार्थकता पाएंगे।"

सस्यूर द्वारा प्रस्तावित प्रतीकविज्ञान के संबंध में दो-तीन बातों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि प्रतीकविज्ञान, उनके लिए भाषा अध्ययन का एक व्यापक संदर्भ बना। प्रतीकविज्ञान के संदर्भ में ही उन्होंने भाषा की मूल प्रकृति को समझने का प्रयास किया। उनका यह कहना था कि अगर भाषाविज्ञान को प्रतीकविज्ञान का एक उपांग मानकर चलें तब हमारे लिए यह दिखलाना संभव है कि भाषा के जिन पक्षों को अब तक हम महत्त्व देते आये हैं वे वस्तुतः उसके गौण पक्ष हैं। उदाहरण के लिए अगर भाषा को पहले हम 'प्रतीकों की व्यवस्था' के रूप में देखें और फिर उसे अन्य प्रकार के प्रतीकों के साथ जोड़ते हुए प्रतीकों के एक सामान्य नियम की खोज की ओर बढ़ें, तब भाषा-व्यवहार का वागिन्द्रिय पक्ष (उच्चारण आधार) अपने आप गौण पड़ जाएगा क्योंकि भाषा का यह पक्ष भाषा को अन्य प्रतीकों की व्यवस्था से मात्र अलग करने का काम करता है।

प्रतीकविज्ञान और भाषाविज्ञान के संबंधों के बारे में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि एक ओर प्रतीकविज्ञान अगर भाषा की आभ्यंतर प्रकृति को समझने में सहायक है, तो दूसरी ओर भाषाविज्ञान, अन्य प्रतीकों की व्यवस्था

पर प्रकाश डालने में भी समर्थ है। सस्यूर के मतानुसार भाषा प्रतीक-व्यवस्था का अन्यतम उदाहरण है क्योंकि सामाजिक अर्थ का वह सर्वाधिक सक्षम उपकरण है। सस्यूर ने इस तथ्य की ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत किया है—

"समाज में प्रयुक्त अभिव्यक्ति का हर उपकरण एक 'सामूहिक मानक' (collective norm) के सिद्धांत द्वारा नियंत्रित होता है। इस 'सामूहिक मानक' को ही दूसरे शब्दों में 'रूढ़ि' (convention) कहा जाता है—प्रतीकों की यह रूढ़िगत प्रकृति (न कि उनका आंतरिक मूल्य) सामाजिक व्यापार का आधार बनती है। अत: हम यह कह सकते हैं कि पूरी तरह से यादृच्छिक (arbitrary) प्रतीक वे होते हैं जो इस प्रतीक वैज्ञानिक आदर्श के सबसे नजदीक हों। यही कारण है कि अभिव्यक्ति प्रकारों में यद्यपि भाषा सर्वाधिक व्यापक और सर्वाधिक जटिल है, फिर भी वही इस प्रतीकवैज्ञानिक आदर्श के सर्वाधिक निकट है (भाषिक प्रतीक अपनी प्रकृति में मूलत: यादृच्छिक और रूढ़िगत होता है)। और यही कारण है कि प्रतीकविज्ञान के लिए भाषाविज्ञान एक 'मॉडल' बन जाता है यद्यपि वह प्रतीकविज्ञान की मात्र एक उपव्यवस्था है।"

निष्कर्ष रूप में यह कहना संभव है कि भाषा की अपनी प्रकृति को समझने के लिए सस्यूर ने 'प्रतीकविज्ञान' की संकल्पना को आगे बढ़ाया, पर सामाजिक व्यापार में भाषा की महत्ता को पहचानते हुए इस 'प्रतीकविज्ञान' के केंद्रक के रूप में 'भाषिक प्रतीकों की व्यवस्था' को ही स्थापित करने का प्रयत्न किया। अत: भाषा-संबंधी उनके चिंतन को समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि पहले हम यह देखें कि 'प्रतीक' हैं क्या और 'भाषिक प्रतीक' से उनका तात्पर्य क्या है ?

प्रतीक और भाषिक प्रतीक

सस्यूर ने 'प्रतीक' को कथ्य (signified) और अभिव्यक्ति (signifier) के संबंधों के रूप में देखा। उनके लिए प्रतीक कथ्य और अभिव्यक्ति के पक्षों से जुड़ी एक संश्लिष्ट और सार्थक इकाई है। कथ्य और अभिव्यक्ति इस संश्लिष्ट इकाई के न तो दो स्तर हैं और न ही उसके दो खंड। वे एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। कथ्य और अभिव्यक्ति के इसी एकीकरण का यह परिणाम है कि सम्प्रेष्य कथ्य के अभाव में अभिव्यक्ति पक्ष और अभिव्यक्ति के अभाव में कथ्य पक्ष, प्रतीक रूप में सिद्ध नहीं माना जा सकता। एक के बिना दूसरे की सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती। किसी प्रतीक के अभिव्यक्ति-पक्ष के आने के साथ ही उसका कथ्य पक्ष भी मन में तत्काल उभरता है (जैसे 'घोड़ा' शब्द सुनते ही श्रोता की कल्पना में उसका कथ्य उभर आता है) और कथ्य की

मन में अवधारणा आते ही उसका अभिव्यक्ति-पक्ष (नाम) सामने आ जाता है।

इस कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंधों की प्रकृति के आधार पर तीन प्रकार के प्रतीकों की ओर संकेत किया जाता है—(1) प्रतिभापरक प्रतीक (iconic sign), (2) संकेतपरक प्रतीक (indexical sign) और (3) सामान्य प्रतीक (sign proper) प्रतिभापरक प्रतीक में कथ्य और अभिव्यक्ति के संबंध का आधार 'सादृश्य' होता है। किसी व्यक्ति-विशेष का 'पोर्ट्रेट' अथवा किसी देश का 'नक्शा' सादृश्य तत्त्व के आधार पर अपने संकेतार्थ को व्यंजित करता है। सूचनापरक प्रतीक में कथ्य और अभिव्यक्ति के बीच के संबंधों में कार्य-कारण का सहज और प्राकृतिक संबंध रहता है। धुआं आग के होने का प्रतीक है। उमड़ते हुए बादल वर्षा की ओर संकेत देते हैं, चेहरे का लाल होकर तमतमा जाना भावोद्रेक (क्रोध या लज्जा) को व्यक्त करते हैं। यह कार्य-कारण संबंध जीवन-व्यापार के अन्य संदर्भों में भी दिखाई देता है। उदाहरण के लिए औषधि की दुनिया में 'सिम्पटम' को देखकर रोग का पता लगाया जाता है, आर्थिक क्षेत्रों में चीजों के मूल्य और वितरण-संबंधी सूचनाओं के आधार पर आर्थिक ढांचे की प्रकृति का संकेत पाया जा सकता है, आदि। इन दोनों प्रतीक-प्रकारों के विपरीत सामान्य प्रतीक अपनी प्रकृति में यादृच्छिक और रूढ़िपरक होते हैं। यादृच्छिक होने के नाते सामान्य प्रतीकों के कथ्य और अभिव्यक्ति में कोई नैसर्गिक संबंध नहीं होता। यही कारण है कि एक ही 'कथ्य' को कई प्रकार से व्यक्त करना संभव है। रूढ़िपरक कहने का तात्पर्य यह है कि कथ्य और अभिव्यक्ति का संबंध समाज द्वारा स्वीकृत मान्यता पर आधारित होता है। वस्तुतः यह संबंध अर्थ के उस पक्ष की ओर संकेत देता है जिसका आधार 'सामूहिक मानक' का सिद्धांत रहता है।

सस्यूर ने भाषिक प्रतीकों की प्रकृति पर विचार करते हुए यह संकेत दिया कि अब तक के सभी भाषाविद् स्पष्टतः या प्रच्छन्न रूप से यह मानते रहे हैं कि भाषिक प्रतीक मूलतः अपनी प्रकृति में 'सामान्य' (यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक) हैं। पर किसी सच्चाई को स्वीकार करना एक बात है और उस सच्चाई को अपनी सैद्धांतिक योजना के भीतर उचित स्थान देना उससे अलग बात है। सस्यूर की विशेषता भी यही रही कि न केवल उन्होंने भाषिक प्रतीकों की यादृच्छिक और रूढ़िपरक प्रकृति की वास्तविकता को स्वीकार किया बल्कि अपने भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों की धुरी के रूप में उसे प्रतिष्ठित किया। इस एक मान्यता की स्वीकृति ने भाषा-संबंधी उनकी अन्य मान्यताओं को जो रूप एवं रंग दिया, उसने भाषा को देखने की दृष्टि को ही पूरी तरह बदल डाला।

यह भाषिक प्रतीक की यादृच्छिक एवं रूढ़िपरक प्रकृति का ही परिणाम

है कि हमें भाषा में पर्यायवाची शब्द या अभिव्यक्तियां मिलती हैं; यथा घोड़ा, अश्व, तुरंग आदि और एक ही कथ्य/प्रत्यय (signified) के लिए भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति-रूप, यथा संस्कृत में 'अश्व', हिंदी में 'घोड़ा', अंग्रेजी में 'हार्स', रूसी में 'कोन्य', फ्रेंच में 'शेवल' आदि। पर क्या इन उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाषा के ये प्रतीक नाम-पद्धति (nomenclature) के दृष्टांत हैं? क्या हम यह कह सकते हैं कि भाषा और कुछ नहीं केवल सार्वभौमिक संकल्पनाओं एवं वस्तुओं के लिए यादृच्छिक रूप से चुने गये नामों की व्यवस्था है? इसमें संदेह नहीं कि हर भाषा के पास किसी संकल्पना के लिए अपना यादृच्छिक 'नाम' होता है, पर सस्यूर के अनुसार भाषा, मात्र नाम की व्यवस्था नहीं है। अगर ऐसा होता तो एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद सरल और सहज होता। अनुवादक हिंदी से अंग्रेजी में अनुवाद करते समय हिंदी के नाम शब्दों के स्थान पर अंग्रेजी के नाम-शब्द रखकर काम चला लेता। लेकिन हर अनुवादक यह जानता है कि किन्हीं भी दो भाषाओं के संकेतार्थ/प्रत्यय/कथ्य (signified) समरूपी (identical) नहीं होते। उदाहरण के लिए अंग्रेजी के 'ब्राउन' रंग शब्द का अर्थ हिंदीभाषी 'भूरा', 'मटियाला' और 'कत्थई' आदि शब्दों द्वारा ग्रहण करता है; हिंदी में जिस 'नीले' रंग को एक संदर्भ में 'हल्का नीला' और दूसरे संदर्भ में 'गाढ़ा नीला' कहा जाता है उसके लिए रूसी में दो अलग-अलग नाम है। अंग्रेजी के 'अंकल' शब्द में हिंदी के 'ताऊ, चाचा, मामा, मौसा, फूफा' आदि समा जाते हैं और उसके 'सिस्टर इन लॉ' अभिव्यक्ति के भीतर 'ननद, साली और भाभी' जैसे हिंदी के कई संकेतार्थ मिलते हैं। ये सभी तथ्य इस बात की ओर संकेत देते हैं कि भाषा केवल 'नाम-पद्धति' नहीं है, क्योंकि हर भाषा भौतिक और अनुभव-संसार को अपने-अपने ढंग से व्यवस्थित करती है। भाषा, पूर्वनिर्धारित जगत और उसकी वस्तुओं के लिए केवल 'नाम' नहीं ढूंढ़ती, वह उसे पहले अपने अनुभव-खंडों में नियोजित कर उसकी अभिव्यक्ति के लिए रास्ता ढूंढ़ती है। इसीलिए भाषा में परिवर्तन संभव है; 'कृष्ण' से 'कान्ह' शब्द बनना संभव है, भले ही ये दोनों शब्द एक ही संकेतार्थ के लिए प्रयुक्त हों। यह अभिव्यक्ति और कथ्य पक्ष के यादृच्छिक संबंधों का ही परिणाम कहा जा सकता है कि अभिव्यक्ति पक्ष में परिवर्तन के बिना ही प्रतीक के संकेतार्थ में परिवर्तन आ जाता है। भाषिक प्रतीकों में पाई जाने वाली अर्थ-विस्तार एवं अर्थ-संकोच की प्रक्रिया इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। उदाहरण के लिए 'तेल' शब्द पहले 'तिल के तेल' को द्योतित करता था, अब यह प्रतीक अपने संकेतार्थ का विस्तार करके किसी भी प्रकार के तेल को संकेतित करता है। इसी प्रकार 'मृग' शब्द पहले किसी भी जानवर के लिए प्रयुक्त प्रतीक

था, पर आज उसका संकेतार्थ जानवर विशेष (हरिण) तक संकुचित हो गया है।

एक-दो उदाहरण ऐसे देखे जा सकते हैं जिनमें प्रतीकों की प्रकृति यादृच्छिक नहीं होती। ऐसे प्रतीकों में अभिव्यक्ति और कथ्य पक्षों के संबंधों की प्रकृति सहेतुक (motivated) होती है। सभी अनुरणनात्मक (onomatopoeic) शब्दों में संकेतार्थ के ध्वनि-साम्य के आधार पर अभिव्यक्ति की प्रकृति निर्धारित होती है, जैसे खट-खट, पट-पट, चट-चट या फिर बिल्ली की 'म्याऊं' आवाज़। एक अन्य संदर्भ में भी प्रतीकों की प्रकृति सहेतुक मानी जा सकती है। हम जब एक शब्द के आधार पर व्युत्पन्न दूसरा शब्द बनाते हैं, तब वस्तुतः प्रतीकों के अभिव्यक्ति और कथ्य पक्ष के संबंधों में एक तर्कजन्य संगति बैठाकर ही शब्द गढ लेते हैं। उदाहरण के लिए 'लेखक', 'पाठक' की तरह 'टंकण' से हम 'टाइपिस्ट' के लिए जब 'टंकक' शब्द गढ़ते हैं तब इस प्रतीक के निर्माण के पीछे हमें एक निश्चित तर्कपरक सिद्धांत दिखलाई पड़ता है। निश्चय ही प्रतीक के रूप में 'टंकक' एक सहेतुक शब्द है। सस्यूर के मत में अनुरणनात्मक एवं सहेतुक प्रतीक, भाषिक प्रतीकों की यादृच्छिक प्रकृति को नकारते नहीं। वे मात्र इसके अपवाद हैं क्योंकि ऐसे भाषिक प्रतीकों की संख्या, सामान्य प्रतीकों की तुलना में नगण्य है।

भाषिक प्रतीक एक दूसरे अर्थ में भी यादृच्छिक होते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि चाहे भाषा का अभिव्यक्ति पक्ष हो अथवा उसका कथ्य पक्ष, अपने उपादान (substance) में संतत या प्रवाही (continuous) होता है। उदाहरण के लिए अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में ध्वनि को लें। किसी शब्द या वाक्य बोलने के समय ध्वनि प्रवाही होती है। इसी प्रकार अगर कथ्य के रूप में रंगावली के 'स्पेक्ट्रम' को लें तो एक सिरे से दूसरे सिरे तक रंगों का एक अनवरत प्रवाह मिलता है। सस्यूर ने यह संकेत किया कि ध्वनि अथवा रंगावली का कोई प्राकृतिक विभाजन नहीं मिलता। प्रत्येक भाषा समुदाय ने इसे यादृच्छिक ढंग से विभाजित कर रखा है क्योंकि स्वयं उसके उपादान में ऐसा कुछ अंतर्निहित नहीं होता जिसके आधार पर उसे विभक्त किया जा सके। उदाहरण के लिए रंगावली का 'स्पेक्ट्रम' भौतिक प्रकृति में एक ही है, पर जहां अंग्रेजी भाषा इस स्पेक्ट्रम को सात रंगों में विभाजित करती है वहां नाइजीरिया की 'तीव' भाषा केवल तीन रंगों में। इस भाषा के बोलने वाले गहरे हरे, नीले और सलेटी रंगों को 'ई' शब्द; नीले, सलेटी और सफ़ेद रगों को 'पुपु' शब्द और लाल से पीले तक सभी रंगों को 'न्यिअन' शब्द द्वारा पहचानते हैं, इसका यह अर्थ नहीं कि 'तीव' भाषा-भाषी वर्णान्धता colour blindness) के शिकार हैं। वे भी सभी रंगों के अंतर को भौतिक धरातल

पर पहचानते हैं, पर भाषिक यथार्थ के रूप में वे रंगों की दुनिया को तीन वर्गों में ही विभाजित करते हैं। इसी प्रकार अगर हम 'क-वर्ग' की ध्वनियों पर ध्यान दें तब जहां उर्दू बोलने वाले 'क, क़ और ख' में विभेद करते हैं वहां अंग्रेजी बोलने वाले sky के 'क', cow के 'क़' और key के 'ख' में अंतर नहीं करते।

सस्यूर ने यह जानना चाहा कि अगर हर भाषा अभिव्यक्ति और कथ्य के उपादान को अपने-अपने ढंग से विभाजित करती है, तब इस विभाजन का आधार क्या है? उन्होंने यह भी जानना चाहा कि वह कौन-सी भाषिक प्रक्रिया है जो हमारे प्रत्यक्षण (perception) का संकेतन (encoding) करती है। प्रत्यक्षण प्रक्रिया का वह कौन-सा आधार है जो 'क, क़ और ख' ऐसी विभिन्न ध्वनियों को उनकी तमाम भौतिक विभिन्नताओं के बावजूद अंग्रेजी भाषी को एक-जैसी ध्वनि का अनुभव कराती है? इस अभिनिर्धारण (identification) के पीछे के व्यापार का रहस्य क्या है? इन्हीं सवालों के बीच से उन्होंने यह प्रश्न भी उठाया कि भाषा (के प्रतीकों) की वास्तविक प्रकृति क्या है?

भाषा को प्रकृति

भाषिक प्रतीकों के संदर्भ में पहले सस्यूर ने यह सिद्ध किया कि अपनी प्रकृति में मूलतः वे यादृच्छिक हैं, फिर उन्होंने यह भी दिखलाया कि वे यादृच्छिक इसलिए हैं कि हर भाषा भौतिक धरातल पर पाये जाने वाले प्रवाही तथ्य को अपने-अपने ढंग से भाषिक यथार्थ के रूप में विभाजित करती है। इन्हीं दो तथ्यों के आधार पर उन्होंने यह भी प्रमाणित किया कि भाषिक प्रतीक अपने में कोई स्वनिष्ठ इकाई नहीं होते बल्कि वे 'प्रतीकों की व्यवस्था' के एक अंग बनकर ही अपनी सार्थकता पाते हैं। उनके अनुसार यह अंग्रेजी भाषा की ध्वनि-व्यवस्था ही है जो 'क, क़ और ख' ध्वनियों को एक ध्वनि-वर्ग में रखती है, और यह 'तीव' भाषा की रंग-व्यवस्था का ही परिणाम है कि उसके 'न्यिअन' शब्द के अर्थ के भीतर स्पेक्ट्रम के लाल से पीले तक के सभी रंग समा जाते हैं।

सस्यूर ने प्रतीकों की व्यवस्था को वस्तुतः प्रतीकों की 'भेदक' व्यवस्था के रूप में परिभाषित किया है। उन्होंने यह सवाल किया कि 'तीव' भाषा के 'न्यिअन' शब्द का संकेतार्थ वही क्यों है जो उस भाषा द्वारा संकेतित है। वह हिंदी भाषा के 'लाल' और 'पीला' का पर्याय क्यों नहीं? उनका उत्तर था कि किसी भी भाषा के रंगों से संबंधित शब्द का संकेतार्थ वस्तुतः उस भाषा की भेदक व्यवस्था का परिणाम होता है। 'न्यिअन' का संकेतार्थ वह है जो

उसके अन्य दो शब्दों—'ई' और 'पुपु' का नहीं है । अतः अगर 'न्यिअन' शब्द को रंग-संबंधी एक 'मूल्य' के रूप में देखें, तब उसके मूल्य का निर्धारण 'तीव' भाषा में व्यवहृत रंग-संबंधी अन्य प्रतीकों से उत्पन्न व्यवस्था के आधार पर ही किया जाना संभव है । इस व्यवस्था की निर्माण प्रक्रिया के पीछे वस्तुतः प्रतीकों के भेदक लक्षण काम करते हैं । सस्यूर के शब्दों में :

> "प्रत्येक स्थिति में हम (प्रतीकों के माध्यम से) किसी पूर्वनिर्धारित संकल्पना का पता नहीं लगाते बल्कि (प्रतीकों की) व्यवस्था से उत्पन्न 'मूल्यों' से परिचित होते हैं । जब हम यह कहते हैं कि ये मूल्य, संकल्पना के संवादी (corresponding) हैं, तब उसका अर्थ यही है कि ये संकल्पनाएं अपनी प्रकृति में शुद्ध रूप से भेदक लक्षणों से युक्त हैं अर्थात् वे अपने कथ्य/प्रत्यय के वास्तविक लक्षणों द्वारा धनात्मक रूप से परिभाषित नहीं होतीं बल्कि व्यवस्था के अन्य प्रतीकों के साथ अपने संबंधों के आधार पर ऋणात्मक रूप से परिभाषित होती हैं । उनकी सबसे सटीक विशेषता यह है कि वह हैं जो कि दूसरे नहीं हैं ।"

अतः 'तीव्र' भाषाभाषियों के लिए 'न्यिअन' के पीछे की संकल्पना वह है जो 'ई' और 'पुपु' की नहीं हैं। सस्यूर के मत में सभी भाषिक इकाइयां अपनी प्रकृति में 'संबंधपरक' (relational) होती हैं और यही 'संबंध' भाषा को 'रूप' देता है । सस्यूर ने इसीलिए भाषा को शुद्ध 'रूप' (form) के संदर्भ में देखा है । उनका तर्क था कि भाषा के शुद्ध रूप में केवल भेदक तत्त्व (differences)होते हैं और ये भेदक तत्त्व ही एक भाषिक इकाई को दूसरी इकाई से अलग कर हमारी प्रत्यक्षण (perception) प्रक्रिया का आधार बनते हैं । भाषिक प्रतीकों के भौतिक उपादान या लक्षण द्वारा हम उन्हें नहीं पहचानते, बल्कि उनकी पहचान का आधार वे 'मूल्य' हैं जिन्हें 'व्यवस्था' उनके लिए निर्धारित करती है। इस तथ्य को उन्होंने 'शतरंज' के खेल के उदाहरण द्वारा समझाने की कोशिश की ।

शतरंज के खेल में प्रयुक्त होने वाले मोहरे एक 'मूल्य' के रूप में पहचाने जाते हैं । यह मूल्य खेल में उनके प्रकार्य (function) को बताता है । 'प्यादा' एक घर चलता है और दूसरे मोहरे को तिरछे मारता है, 'हाथी' सीधे कई घर चलकर सीधे ही दूसरे मोहरे को मारता है, 'घोड़ा' ढाई घर दूसरे मोहरों को फांदकर चल सकता है, आदि । ये मोहरे अपने रूप-आकार में छोटे-बड़े हो सकते हैं, वे अपने उपादान में प्लास्टिक, कागज, लकड़ी, धातु आदि किसी भी वस्तु का प्रयोग कर सकते हैं । आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि हम एक मोहरे 'प्यादा' को दूसरे मोहरों 'हाथी', 'घोड़ा' आदि

से किसी भेदक लक्षण के आधार पर अलग कर सकें। सस्यूर का कहना है कि ये मोहरे अपने भौतिक उपादानों या बाह्य रूप-रंग के आधार पर खेल में भाग नहीं लेते, बल्कि उस 'मूल्य' के रूप में शामिल होते हैं जो शतरंज का खेल उसे एक 'व्यवस्था' के रूप में प्रदान करता है । यही कारण है कि अगर कोई मोहरा खो जाए, तब हम उसे किसी भी अन्य 'वस्तु' द्वारा उसका 'मूल्य' देकर काम चला लेते हैं । ज़रूरी केवल यह होता है कि वह 'वस्तु', अन्य मोहरों से अलग दिखाई दे । शतरंज का खेल मोहरों के भौतिक लक्षणों के आधार पर नहीं खेला जाता, उसका खेल उस मूल्य के आधार पर खेला जाता है जो विभिन्न मोहरों को खेल के विधान द्वारा मिला हुआ है । सस्यूर के मत में भाषा-व्यवस्था की प्रकृति को भी शतरंज के खेल के सादृश्‍य पर समझा जा सकता है क्योंकि किसी भाषा की किसी ध्वनि (यथा 'क्') अथवा उसके रंगनाम (यथा 'लाल') की अपनी सार्थकता उसके भौतिक उपादानों में नहीं होती, वह तो उस 'मूल्य' म होती है जिसे भाषा की अपनी व्यवस्था उसे प्रदान करती है ।

सस्यूर इस बात से दुखी थे कि उनके पूर्ववर्ती भाषाविदों ने भाषा की आभ्यंतर प्रकृति पर न तो तर्कसंगत रीति से विचार करने की कोशिश की है और न ही उसे संक्रियात्मक ढंग से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है । उन्होंने स्पष्टतः यह कहा—"अभी तक भाषाविदों ने उस 'वस्तु' की प्रकृति को निर्धारित एवं निरूपित करने का प्रयत्न नहीं किया जिसका वे अध्ययन कर रहे हैं और जब तक संक्रियात्मक (operational) ढंग से इस पर विचार नहीं किया जाता, उसका विज्ञान भी सही ढंग की प्रणाली का विकास नहीं कर सकता ।"

प्रणालीगत अध्ययन की भूमिका के रूप में ही उन्होंने पारिभाषिक शब्दावली के निम्नलिखित सार्थक युग्म किए—

(i) कथ्य (signified) और अभिव्यक्ति (signifier)
(ii) उपादान (substance) और रूप (form)
(iii) भाषा-व्यवस्था (langue) और भाषा-व्यवहार (parole)
(iv) विन्यासक्रमी (syntagmatic) और सहचारक्रमी (paradigmatic) संबंध ।
(v) एककालिक (synchronic) और कालक्रमिक (diachronic) संदर्भ ।

हम (i) और (ii) युग्मों की पहले ही चर्चा कर चुके हैं। नीचे (iii), (iv) और (v) के संबंध में सस्यूर के विचारों पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाएगा ।

भाषा-व्यवस्था और भाषा-व्यवहार

सस्यूर द्वारा प्रस्तावित यह सबसे अधिक चर्चित और चिंतन की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण युग्म है। सस्यूर ने भाषा (le langage) के जिस रूप की अवधारणा की है वह एक ओर 'सामाजिक वस्तु' है और दूसरी ओर अपनी प्रकृति में वह सतत परिवर्तनशील और गत्यात्मक है। सामाजिक होने के कारण उसका एक पक्ष संस्थागत है, जिसे सस्यूर ने 'भाषा-व्यवस्था' (la langue) की संकल्पना द्वारा पकड़ना चाहा। सतत परिवर्तनशील होने के कारण भाषा-भेद 'भाषा' की अपनी नियति है। इस पक्ष को उन्होंने 'भाषा। व्यवहार' (la parole) की अपनी संकल्पना द्वारा परिभाषित करना चाहा। उनकी धारणा के अनुसार 'भाषा-व्यवस्था' (la langue) और 'भाषा-व्यवहार' (la parole) मिलकर ही 'भाषा' (le langage) की सही संकल्पना का निरूपण करने की स्थिति में है। (हिंदी की कुछ पुस्तकों में la langue के लिए 'भाषा' और la parole के लिए 'वाक्' का प्रयोग मिलता है जिसका आधार अंग्रेजी के शब्द language और speech है। मेरे मत में ये शब्द-प्रयोग, सस्यूर की भाषा संबंधी संकल्पना को सही रूप में व्यंजित नहीं करते)।

'भाषा-व्यवहार' अपने व्यक्त रूप में मानव संबंधों की तरह बहुरूपी और व्यक्तिगत आवश्यकताओं की तरह वैविध्यपूर्ण और विषमरूपी (heterogeneous) होते हैं। वैयक्तिक संदर्भों से जुड़े होने के कारण यह भाषा का व्यष्टि रूप है। व्यक्ति की अपनी यथार्थता से जुड़े होने के कारण 'भाषा-व्यवहार' कोडीकरण की उस प्रक्रिया से संबद्ध होता है जो व्यक्ति के अपने संदर्भ, श्रोता की भूमिका, देश और काल के परिस्थितिगत दबाव आदि द्वारा प्रभावित और नियंत्रित रहता है। अतः 'भाषा-व्यवहार' अपनी मूल प्रकृति में नव-प्रवर्तनकारी (innovative) हुआ करता है। इसके विपरीत 'भाषा-व्यवस्था', संस्थागत (institutional) होती है। यह वस्तुतः समूहगत अनुबंध (collective contract) का परिणाम होती है। यह भाषिक प्रतीकों की उस संहिता (code) से संबद्ध होती है जो किसी भी प्रकार से वक्ता की निजी इच्छा, या प्रतीकों के अपने माध्यम या उपादान (substance) से बाधित नहीं होती। अगर 'भाषा-व्यवहार' अपनी प्रकृति में विशिष्ट (token) होता है तब 'भाषा-व्यवस्था', निर्विशिष्ट होकर 'टाइप' बन जाती है। वास्तविकता तो यह है कि निर्विशिष्ट होकर ही यह समरूपी (homogeneous) हो पाती है। निर्विशिष्ट होने का यह मतलब नहीं कि 'भाषा-व्यवस्था', भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में प्रचलित वैज्ञानिकों की 'सैद्धांतिक' इकाइयों की तरह अमूर्त है और समाज-निरपेक्ष है। सस्यूर ने इस बात को जोर देकर बार-बार बताने की

चेष्टा की है कि भाषिक प्रतीकों के भेदक तत्त्वों का आधार उनके भौतिक उपादान नहीं होते, बल्कि उनका आधार केवल सामाजिक प्रकार्य (Social function) होता है। इसीलिए सस्यूर के मत में 'भाषा-व्यवस्था' सामाजिक संस्थान की तरह एक सामाजिक वास्तविकता है, वह स्वयं में एक प्रतीकबद्ध सामाजिक वस्तु है, जो व्यक्ति से जुड़ी रहकर भी व्यक्ति की अपनी सीमाओं से मुक्त (Supra-individual) होती है।

सस्यूर ने 'भाषा-व्यवस्था' को एक ओर मूल्यों (values/functions) की व्यवस्था कहा है और इस व्यवस्था को उसी रूप में स्वनिष्ठ एवं गत्यात्मक माना है जिस प्रकार शतरंज के खेल के अपने नियम स्वनिष्ठ एवं गत्यात्मक होते हैं। मूल्य हमेशा वस्तुगत इकाइयों के भेदक लक्षण (distinctive feature) के आधार पर अपनी अर्थवत्ता ग्रहण करते हैं। हिंदी में 'क्' और 'ख्' ध्वनियां महाप्राणत्व के भेदक लक्षण के आधार पर दो सार्थक इकाइयां हैं क्योंकि उस भाषा में 'कल' और 'खल' अथवा 'काल' और 'खाल' जैसे अर्थ-परक शब्द-युग्म देखे जा सकते हैं। अंग्रेज़ी में ऐसे शब्द-युग्म नहीं मिलते अतः उस भाषा में महाप्राणत्व, सार्थकता के साथ भेदक लक्षण के रूप में कार्य नहीं करता।

सस्यूर ने भाषावैज्ञानिकों के लक्ष्य की बात उठाते हुए यह निर्देश दिया है कि 'भाषा-व्यवस्था' (लांग) की प्रकृति की समझ ही उनका उद्देश्य होना चाहिए। उनके अनुसार इसके प्रमुखतः दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि 'भाषा-व्यवस्था' का अध्ययन करने से हम भाषा के उन सामाजिक तत्त्वों पर बल देंगे जो व्यक्ति की अपनी वैयक्तिक सीमाओं एवं विकल्पन से मुक्त होते हैं। ऐसा करने से भाषा के उन सारभूत तत्त्वों का हम पता लगा सकेंगे जो उसके लिए न तो 'आकस्मिक' (accidental) है और न ही मात्र आनुषंगिक (ancillary)। दूसरा कारण यह है कि भाषा अपनी मूल प्रकृति में 'मूल्यों की व्यवस्था' है, यह व्यवस्था, 'लांग' को एक 'संगतिपूर्ण और विश्लेष्य वस्तु' बनाती है, अतः संक्रियात्मक ढंग से इसका अध्ययन-विश्लेषण संभव है।

'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' की बात करते समय आज के भाषावैज्ञानिक प्रायः यह बात भूल जाते हैं कि सस्यूर ने इन दोनों को भाषा (le langage) के दो अभिन्न पक्षों के रूप में स्वीकार किया था। सस्यूर के अनुसार 'भाषा-व्यवस्था' के रूप में 'लांग' और 'भाषा-व्यवहार' के रूप में 'परोल' एक-दूसरे का संदर्भ लेकर ही परिभाषित किए जा सकते हैं। भाषा तभी जीवंत मानी जा सकती है जब ये दोनों पक्ष संस्थागत और वैयक्तिक द्वंद्वात्मक (dialectical) प्रक्रिया की स्थिति में हों। 'भाषा-व्यवस्था' को ही

व्यक्ति विविध संदर्भों में भाषा-व्यवहार के द्वारा मूर्तमान बनाता है। और दूसरी ओर 'भाषा-व्यवहार' की विशिष्ट और मूर्तमान घटनाओं को ही समाज अपनी सामूहिक चेतना में निर्विशिष्ट और साधारणीकृत रूप में ग्रहण करता है। इसीलिए 'भाषा-व्यवस्था' और 'भाषा-व्यवहार' सापेक्ष संकल्पनाएं हैं। यह ठीक है कि भाषा-व्यवहार, बिना भाषा-व्यवस्था के संभव नहीं क्योंकि नियम संहिता के बिना उसका व्यक्ति के आचरण में प्रतिफलन भी संभव नहीं। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि व्यक्ति, भाषा-व्यवस्था को भाषा-व्यवहार की विविध घटनाओं के आधार पर ही आत्मसात् करता है। यह कहा जा सकता है कि 'भाषा-व्यवस्था', 'भाषा-व्यवहार' के लिए एक साथ एक अपेक्षित साधन (instrument) भी है और सामाजिक चेतना के धरातल पर भाषा-व्यवस्था के संचित कोष के रूप में उसका परिणाम (result) भी। एक साथ 'साधन' और 'परिणाम' होने के कारण 'भाषा-व्यवस्था' को समझने के लिए 'भाषा-व्यवहार' का संदर्भ केवल अपेक्षित ही नहीं वरन् आवश्यक और अपरिहार्य भी हो जाता है।

विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी संबंध

सस्यूर ने भाषा को भाषिक प्रतीकों के बीच पाये जाने वाले 'संबंधों की व्यवस्था' के रूप में देखा था। उनके अनुसार संबंधों की यह व्यवस्था दो आयामों पर प्रतिफलित होती है—विन्यासक्रमी (syntagmatic) और सहचारक्रमी (associative) आयाम।

विन्यासक्रम, संबंधों का वह आयाम है जो प्रतीकों के रेखीय (linear) संयोजन से बनता है। रेखीय संयोजन इस बात की मांग करता है कि प्रतीक, कड़ी के रूप में आये और 'स्थान' और 'समय' की दृष्टि से एक खास क्रम में प्रयुक्त हों। उदाहरण के लिए यह वाक्य लें—'लड़का फल खा चुका है।' इसमें 'लड़का, फल, खा' आदि भाषिक प्रतीकों का संबंध विन्यासक्रमी इसीलिए है कि उनमें संयोजन रेखीय है। 'लड़का, फल खा' आदि वाक्य में एक निश्चित 'स्थान' ग्रहण किये हुए है। साथ ही जिस समय 'लड़का' का उच्चारण होगा, 'फल' का उच्चारण उस समय नहीं हो सकता और जिस समय 'फल' का उच्चारण होगा, उस समय 'खा चुका है' का उच्चारण संभव नहीं। इस संयोजन-व्यवस्था में हर भाषिक प्रतीक अपना 'मूल्य' अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती प्रतीकों के विरोध में निर्मित करता है। ऊपर के उदाहरण में फल, और 'खाने' के संदर्भ में 'लड़का', कर्ता का मूल्य ग्रहण करता है, और 'लड़का' तथा 'खाने' के संदर्भ में फल, कर्म का।

सहचारक्रम, संबंधों का वह आयाम है जो प्रतीकों की वर्गयुक्त संकल्पना

को अपना आधार बनाता है। इसके लिए हमें एक ओर 'स्मृतियों' का सहारा लेना पड़ता है और दूसरी तरफ प्रतीकों के आपसी साहचर्य (association) का। उदाहरण के लिए अगर हम यही वाक्य लें, 'लड़का फल खा चुका है', तब इसमें 'लड़का' जिस वर्ग की संकल्पना को उभारता है उसमें 'आदमी, मोहन, नौकर' आदि कई प्रतीक आ जाते हैं। पर इस वर्ग में 'मिट्टी, मेज, सुंदरता, तेज़ी' आदि प्रतीक नहीं आ पाते। इसी प्रकार अगर हम यह उक्ति लें—'अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी', तब इसमें 'अबला' प्रतीक जिस वर्ग की संकल्पना को उभारता है, उसमें साहचर्य के आधार पर कई अन्य संकल्पनाएं स्मृति में उभरती हैं, यथा नारी, स्त्री, रमणी आदि। 'अबला' प्रतीक अपने अर्थ की सार्थकता इनके विरोध में आकर ही पाता है।

भाषिक व्यवस्था का संरचनात्मक रूप वस्तुतः प्रतीकों के विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी संबंधों की द्वंद्वात्मक स्थिति का ही परिणाम होता है। यह ध्यान देने की बात है कि विन्यासक्रमी संबंधों का आयाम समस्तरी (horizontal) होता है, जबकि प्रतीकों के साहचर्य-संबंधों पर आधारित होने के कारण सहचारक्रमी संबंधों का आयाम उर्ध्वस्तरी (vertical) होता है। इन दो आयामों को निम्नलिखित ढंग से दिखाना संभव है :

```
विन्यासक्रमी ————————→ क    ख    ग
                    ↑ के   खे   गे
                    | कै   खै   गै
              सहचारक्रमी
```

संबंधों के ये दो आयाम भाषिक प्रतीकों की व्यवस्था तक ही सीमित नहीं होते। इन्हें हम संस्थागत उन सभी आचरणों में देख सकते हैं जिसका अध्ययन अपने व्यापक संदर्भ में 'प्रतीक विज्ञान' करता है। उदाहरण के लिए 'भोजन', 'पोशाक' आदि व्यवहार क्षेत्रों में भी ये संबंध देखे जा सकते हैं। जैसे 'हिंदी भाषाई समाज' में खाने के क्रम में हम पहले रोटी, फिर चावल, उसके बाद मिष्ठान और अंत में पान-इलायची का क्रम पाते हैं। सस्यूर ने जिस ओर संकेत दिया वह यह है कि इस विन्यासक्रम का आधार प्रतीकों (वस्तुओं) के भौतिक गुण नहीं होते। उनका आधार संस्थागत रूढ़ियां हैं। अतः यह क्रम विभिन्न समाजों में विभिन्न रूपों में देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए पंजाबी भाषाई समाज में 'रोटी और चावल' का क्रम बदलकर 'चावल और रोटी' हो जाता है। इसी प्रकार हिंदी में अगर वाक्यों में 'कर्ता+कर्म+क्रिया' का विन्यासक्रम मिलता है तो अंग्रेजी भाषा में कर्ता+क्रिया+कर्म का।

विन्यासक्रमी और सहचारक्रमी संबंध वस्तुतः हमारे मन की दो भिन्न

शक्तियों पर आधारित हैं। प्रतीकों के विन्यासक्रमी संबंधों का आधार संयोजन है जो प्रतीकों को एक कड़ी के रूप में बांधने का काम करता है। इसके विपरीत सहचारक्रमी संबंधों का आधार चयन है जो प्रतीकों के साहचर्य के आधार पर बने वर्गों में से किसी एक इकाई को चुनने का काम करता है। वाचाघात (aphasia) की स्थिति में इन दोनों आयामों पर मानसिक विकार संभव है। जो रोगी चयन/सहचारक्रमी पर मानसिक शक्ति खो बैंठता है, उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि वह मन की संयोजन/विन्यासक्रमी शक्ति भी खो बैठे। वे केवल 'लैम्प' के लिए 'मेज़', 'चाकू' के लिए 'कैंची' शब्द का प्रयोग करते हैं पर उनका वाक्य-विन्यास सही और व्यवस्थित रहता है। इसके विपरीत जो रोगी विन्यासक्रमी आयाम पर अपनी मानसिक शक्ति खो बैंठता है, वह वस्तुओं को उनके सही नाम से पहचान लेता है, लेकिन उन वस्तुओं के बीच पाए जाने वाले संबंधों को सही वाक्य-विन्यास के साथ व्यक्त नहीं कर पाता। सस्यूर ने यह दिखलाने की चेष्टा की कि भाषा, 'जिन संबंधों की व्यवस्था' है, उसके लिए चयन (सहचारक्रम) और संयोजन (विन्यासक्रम) —दोनों ही प्रकार की मानसिक शक्ति की आवश्यकता बनी रहती है।

एककालिक और कालक्रमिक संदर्भ

सस्यूर ने भाषा अध्ययन के दो संदर्भों की चर्चा की है—भाषिक व्यवस्था के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अध्ययन का एककालिक (synchronic) संदर्भ और भाषा विकास अथवा परिवर्तन के अध्ययन-विश्लेषण के लिए अध्ययन का कालक्रमिक (diachronic) संदर्भ। एककालिक संदर्भ किसी स्थिति विशेष में भाषिक व्यवस्था का काल-तटस्थ विवरण प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत कालक्रमिक संदर्भ भाषा के काल-सापेक्ष विकास का चित्र खींचता है।

यह कहा जाता है कि सस्यूर ने यद्यपि भाषा-अध्ययन के दो निश्चित संदर्भों की बात उठाई, पर उन्होंने भाषा-अध्ययन के एककालिक संदर्भ पर अनावश्यक रूप से अधिक बल दिया है। इस आलोचना पर टिप्पणी देने के पहले एक ओर यह देख लेना अधिक उचित होगा कि सस्यूर के अपने भाषा सिद्धांत के वे कौनसे प्रेरक तत्त्व थे जिन्होंने उन्हें कालक्रमिक संदर्भ की तुलना में भाषा अध्ययन के एककालिक संदर्भ पर बल देने पर विवश किया। दूसरी तरफ़ यह देखना भी अनुचित न होगा कि सस्यूर जिस युग में अपना सिद्धांत प्रतिपादित कर रहे थे, उसकी प्रवृत्ति क्या थी।

सस्यूर ने जिस समय भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय नव्य व्याकरणकारों का बोलबाला था। उन्नीसवीं शताब्दी ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान के कठोर प्रणालीगत विश्लेषण से गुज़र चुकी थी। ध्वनि-परिवर्तन के

नियमित (regular) नियमों के निर्धारक तत्त्वों की खोज संपन्न हो चुकी थी। भाषा-व्यवहार के नियमित आचरणों के पीछे काम करने वाले (मनोवैज्ञानिक) सिद्धांतों की जबर्दस्त चर्चा उठाई जा चुकी थी। सस्यूर ने इस परंपरा से जुड़कर इसके विरोध में अपनी मान्यताओं को सामने रखा। उन्होंने यह बात स्वीकार की कि भाषा-परिवर्तन, भाषा की नियति है। उन्होंने अपने प्रतीक सिद्धांत को सामने रखते हुए यह भी कहा कि भाषिक प्रतीक का ऐसा कोई भी केंद्रीय अंश नहीं होता जो सिद्धांततः परिवर्तनशील न हो। उनके मत में प्रतीक के दोनों पक्षों—कथ्य और अभिव्यक्ति—में परिवर्तन संभव है। अतः उनकी यह पहली मान्यता थी कि भाषा एक ऐतिहासिक इकाई है और इसलिए उसमें परिवर्तन आना एक स्वाभाविक बात है।

पर भाषा के इस ऐतिहासिक संदर्भ की बात को स्वीकार करने के उपरांत भी उन्होंने भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसके एककालिक संदर्भ को ही उचित ठहराया। उनका तर्क यह था कि भाषावैज्ञानिक अध्ययन का लक्ष्य 'प्रतीकों के संबंधों की व्यवस्था' है और भाषिक परिवर्तन हमेशा इस व्यवस्था के बाहर की चीज़ होती है। भाषा-परिवर्तन उनके मत में न तो सहेतुक होता है और न 'व्यवस्था' से प्रेरित रहता है। यह परिवर्तन, पूर्णतावादी (telic) भी नहीं होता क्योंकि भाषा-परिवर्तन से न तो भाषिक व्यवस्था को कोई लाभ पहुंचता है और न ही उससे यह व्यवस्था अधिक सक्षम होती है।

ऊपर की मान्यता के साक्ष्य में उन्होंने अंग्रेज़ी भाषा के असामान्य बहुवचन रूप feet, geese, teeth के ऐतिहासिक परिवर्तन की बात उठाई और यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार इसमें आने वाले परिवर्तन, भाषिक व्यवस्था के बाहर के तत्त्व हैं। एंग्लो-सैक्सन से आधुनिक अंग्रेज़ी में इसके विकास को निम्नलिखित तीन चरणों में बांटा जा सकता है :

पहला चरण

एकवचन	बहुवचन
fot	foti
gos	gosi

दूसरा चरण

fot	fēti
gos	gesi

तीसरा चरण

fot	fēt
gos	ges

इन तीन चरणों पर foot (fōt) और goose (gōs) शब्दों के बहुवचन रूपों में जो परिवर्तन आये, उनपर ध्यान देने से निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं। पहले से दूसरे चरण में परिवर्तन को हम 'इ-विकार' के रूप में जानते हैं। यह नियम बताता है कि जब भी 'इ' (i) बलाघात अक्षर के बाद आता है, तब बलाघात अक्षर के स्वर में परिवर्तन आ जाता है। 'इ' स्वर के प्रभाव से 'पश्च' स्वर 'अग्र' बन जाता है। परिणामस्वरूप पहले का ō स्वर, दूसरे चरण में ē बन जाता है (fōti>fēti)। सस्यूर का सवाल यह है कि ō>ē परिवर्तन से क्या पहले चरण की भाषिक व्यवस्था, दूसरे चरण में आकर अपनी प्रकृति में कुछ बदली ? उनका उत्तर है—कि यह तो निरर्थक (non-significant) ध्वनिक परिवर्तन है क्योंकि इस परिवर्तन से बहुवचन की व्यवस्था में कोई गुणात्मक भेद नहीं आया। इस प्रकार दूसरे से तीसरे चरण में आने की प्रक्रिया में जो भाषा-परिवर्तन दिखलाई देता है उसमें शब्दांत 'इ' स्वर का लोप हो जाता है (fēti>fēt)। (बाद में ग्रेट इंगलिश वावेल शिफ़्ट के अनुसार ओ (ō) का ऊ (ū) में तथा ए (ē) का ई (ī) में परिवर्तन होता है जिससे फ़ूट (foot), फ़ेट (fēt) बनता है और फ़ेट (fēt), फ़ीट (feet)। सस्यूर ने यह तर्क सामने रखा कि तीसरे चरण में जो इ-लोप की प्रक्रिया दिखलाई पड़ रही है, उससे बहुवचन की अपनी व्यवस्था पर तो कोई प्रभाव पड़ा ही नहीं। इस उदाहरण के सहारे वे यह सिद्ध करना चाहते थे, कि बहुवचन को व्यक्त करने वाले प्रतीकों के बाहरी रूपों में तो समय के साथ परिवर्तन आया, पर बहुवचन की अपनी व्यवस्था 'तीसरे' चरण पर भी वैसी ही बनी रही, जैसी कि वह 'पहले' और दूसरे चरण पर थी।

एक दूसरे परिप्रेक्ष्य में भी सस्यूर ने भाषा-अध्ययन के एककालिक संदर्भ की महत्ता स्थापित की। उनके अनुसार किसी भाषा के कालक्रमिक अध्ययन का रास्ता भी एककालिक अध्ययन का रास्ता है। उनका सवाल पहले यह है कि किसी भाषिक परिवर्तन के जानने का रास्ता क्या है ? पहले हम चरण-1 पर भाषा-व्यवस्था का एककालिक अध्ययन करते हैं और उसके अनुसार भाषा का विवरण प्रस्तुत करते हैं। मान लीजिए कि चरण-1 से सम्बद्ध विवरण काल-'क' का है। फिर हम चरण-2 पर भाषा-व्यवस्था का एककालिक अध्ययन कर उसके प्रतीकों का विवरण देते हैं। मान लीजिए कि चरण-2 से संबंधित विवरण काल 'ख' का है। भाषा-परिवर्तन (अर्थात् कालक्रमिक अध्ययन) तो काल 'क' और 'ख' के संदर्भ में प्राप्त दो चरणों के भाषा-विवरण के भेद के आधार पर ही देखा जा सकता है। अगर यह बात सही है तब सस्यूर का यह तर्क भी सही है कि कालक्रमिक अध्ययन का संदर्भ, भाषा-व्यवस्था के एककालिक अध्ययन की अपेक्षा रखता है।

सस्यूर, यह भी मानते थे कि भाषा-परिवर्तन पहले 'भाषा-व्यवहार' (parole) से शुरू होता है। उनके अनुसार भाषा-परिवर्तन पहले भाषा-विज्ञान के रूप में वैयक्तिक स्तर पर प्रारंभ होता है। यह विकार अंत में जाकर 'भाषा-व्यवस्था' (langue) को प्रभावित करता है। अतः पहले 'प्रतीक' में विकार आता है और उसके काफ़ी बाद प्रतीकों के संबंधों की व्यवस्था में उसके फलस्वरूप परिवर्तन होता है। उनकी दूसरी मान्यता यह थी कि भाषा विकार की अपनी कोई व्यवस्था नहीं होती, इसीलिए भाषा-परिवर्तन, एककालिक संदर्भ से उपलब्ध 'संबंधों की व्यवस्था' के बाहर की चीज है, भले ही बाहर रहकर वह व्यवस्था को प्रभावित ही क्यों न करता हो। (सस्यूर द्वारा प्रस्तावित भाषा-अध्ययन के दो संदर्भ—एककालिक और कालक्रमिक—आज भी मान्य हैं, पर उनकी इस मान्यता का वाइनराइख, लेबोव आदि खंडन कर चुके हैं कि भाषा-परिवर्तन, भाषिक व्यवस्था के बाहर की चीज है)।

(4)

आधुनिक भाषा-चिंतन के संदर्भ में सस्यूर के महत्त्व के बारे में जो भी कहा जाए, वह अपर्याप्त ही होगा। वे आधुनिक भाषा-विज्ञान के 'जनक' के रूप में जाने जाते हैं। पर सच तो यह है कि चिंतक के रूप में वे आज भी हमारे बीच जीवित हैं, क्योंकि भाषाविज्ञान का आज कोई भी 'स्कूल' क्यों न हो, भाषा-सिद्धांत की कोई भी नई 'स्थापना' क्यों न प्रस्तावित हो रही हो, और भाषा-अनुसंधान का कोई भी नया क्षेत्र क्यों न सामने आ रहा हो, बिना 'सस्यूर' द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों से टकराये वे अपनी मान्यता नहीं प्राप्त कर सकते।

सस्यूर जिस किसी भी समस्या को उठाते थे, उसका विधिवत् परीक्षण करते थे। उदाहरण के लिए वे भारोपीय भाषा में स्वर-विकल्पन की समस्या से वर्षों जूझते रहे। सवाल यह पता लगाने का था कि भारोपीय भाषा के मूल में वह कौनसी स्वर-व्यवस्था थी जिसके आधार कर इससे जन्मी अन्य ज्ञात भाषाओं की स्वर-व्यवस्था एवं उनमें मिलने वाले विकल्पनों को समझा जा सके। इनमें सबसे बड़ी समस्या—अ (a) स्वर की थी। कुछ विद्वानों ने कई 'अ' की कल्पना की थी और उसी विभिन्न 'अ' के द्वारा स्वर-विकल्पन की व्याख्या कर रहे थे। सस्यूर को उनकी व्याख्या असंतोषपूर्ण लगी। अपने अध्ययन के आधार पर जिस स्वर-इकाई की उन्होंने कल्पना की, उसको स्वनिक रूप तो नहीं दिया, पर उसके प्रकार्यात्मक-रूप (functional form) की ओर उन्होंने स्पष्ट संकेत दिया। उनके अनुसार इस इकाई का संबंध 'अ' (या उससे उत्पन्न 'ए' और 'ओ') से नहीं था। उनकी यह मान्यता थी कि

यह इकाई एक ओर आक्षरिक गुणों से युक्त थी (क्योंकि वह बिना किसी अन्य इकाई की सहायता से अपनी सत्ता ग्रहण कर सकती थी), और दूसरी तरफ़ व्यंजनों की तरह के दूसरे स्वरों से संयुक्त भी हो सकती थी। इस ध्वनि-इकाई को सस्यूर ने sonant coefficient कहा। यह देखकर आश्चर्य होता है कि सस्यूर द्वारा प्रस्तावित इस प्रकार्यात्मक इकाई की सत्ता का प्रमाण ठीक उसके पचास वर्ष बाद मिला। क्यूनिफ़ार्म हिट्टाइट की खोज के बाद यह पता चला कि उसकी व्यवस्था में 'ह' लिपि-चिह्न है जो उसी रूप में व्यवहार करता था जैसा कि सस्यूर ने अपने वैज्ञानिक शोध के आधार पर अनुमान लगाया था। आज यह ध्वनि और सिद्धांत काकलीय (laryngal) के रूप में जाना-माना जाता है।

अगर सस्यूर के सिद्धांतों और विचार-संदर्भ को आज की चिंतनधारा से जोड़कर देखें, तब आज की दो मुख्य प्रवृत्तियों के प्रेरणास्रोत वे ही माने जाएंगे। उनमें से एक है 'संरचनावाद' जो आज की चिंतनधारा में 'वाद' से अधिक एक 'आंदोलन' के रूप में सामने आया है। दूसरा है 'प्रतीकविज्ञान' का क्षेत्र, जो नृतत्वशास्त्र, शैलीविज्ञान आदि का आज मूलाधार बन चुका है। जहां तक भाषाविज्ञान के अपने 'स्कूल' का संबंध है, सस्यूर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत जिन तीन क्लासिकल स्कूलों को जन्म दे चुका है, वे हैं—प्राग का 'प्रकार्यात्मक भाषाविज्ञान', कोपनहेगन का 'ग्लासमैटिक्स' और अमेरिका का 'संरचनात्मक भाषाविज्ञान'।

4

ब्लूमफ़ील्ड और संरचनात्मक भाषाविज्ञान

भोलानाथ तिवारी

(1)

संस्कृत के वैयाकरणों में पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि, ये तीन 'मुनित्रय' कहे जाते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में यदि इस रूप में तीन का नाम लेना चाहें तो सहज ही सस्यूर, ब्लूमफ़ील्ड तथा चॉम्स्की के नामों का स्मरण हो आता है। सस्यूर यदि आधुनिक भाषाविज्ञान के जनक हैं, तो ब्लूमफ़ील्ड उसके प्रतिष्ठाता हैं तथा चॉम्स्की ने उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर उसे गहराई प्रदान की है। ब्लूमफ़ील्ड प्रतिष्ठाता के रूप में कितने महत्त्वपूर्ण हैं, इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि उनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्विज' (भाषा) को भाषाविज्ञान की बाइबिल (मामबर्ग 1964 : 165) कहा गया है, तो उनके एक बहुचर्चित लेख (ब्लूमफ़ील्ड, 1926) को समसामयिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का घोषणापत्र (जूस 1957 : 31) तथा उनकी पुस्तक 'द मिनॉमिनी लैंग्विज' (मिनामिनी भाषा) को पूर्णता और यथातथता (accuracy) की दृष्टि से पाणिनि की अष्टाध्यायी के आदर्श पर लिखी गई (हॉकिट 1962 : VIII)।

(2)

ब्लूमफ़ील्ड (1887–1949) का जन्म शिकागो में हुआ था। इनके चाचा मॉरिस ब्लूमफ़ील्ड तुलनात्मक भाषाविज्ञान और संस्कृत के प्रोफ़ेसर थे। ब्लूमफ़ील्ड पढ़ने में सामान्य थे, तथा एक बार फ़ेल भी हुए थे। स्नातकीय शिक्षा के लिए ब्लूमफ़ील्ड ने विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और

वहां इनकी भेंट प्रोकोश (E. Prokosh) से हुई जो जर्मन भाषा तथा भाषाविज्ञान के विद्वान् तथा प्राध्यापक थे। उन्हींके प्रभाव से ब्लूमफ़ील्ड भाषाविज्ञान में आये। बाद में ये शिकागो चले आये और वहीं से इन्होंने ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के एक विषय (A Semasiologic differentiation in Germanic secondary ablaut) पर 1909 में डॉक्टरेट ली। बाद में वे आगे अध्ययन करने जर्मनी चले गये, जहां ब्रुगमान तथा ओल्डेनबर्ग आदि प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों के संपर्क में आये। यों तो उन्होंने अमेरिका तथा यूरोप में अनेक विद्वानों से लाभ उठाया और सभी के प्रति वे श्रद्धा रखते थे, किंतु वे अपना वास्तविक गुरु प्रोकोश को ही मानते थे। ब्लूमफ़ील्ड ने कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया, जिनमें मुख्य इलिनॉइ, शिकागो तथा येल आदि हैं।

ब्लूमफ़ील्ड ने प्रारंभ में जर्मन ध्वनि और रूप-रचना पर काम किया, किंतु बाद में इनकी रुचि सामान्य भाषाविज्ञान में हो गई। ये लोगों को भाषाविज्ञान में आने के लिए उत्साहित नहीं करते थे, क्योंकि उसकी विशेषज्ञता लेकर जीविका कमाना उन दिनों भी काफ़ी कठिन था। अमरीका के प्रसिद्ध भाषाशास्त्रियों में प्रायः कोई भी इनका सीधा शिष्य नहीं था, किंतु सभी इनकी रचनाओं से इतने प्रभावित थे कि इन्हें अपना गुरु मानते थे। वस्तुतः अमरीकी भाषाविज्ञान को सपीर ने अपने शिष्यों के माध्यम से आधिक प्रभावित किया था तो इन्होंने अपनी कृतियों के द्वारा। यों तो इन्होंने भाषा-विश्लेषण की बड़ी प्रभावी पद्धति का सूत्रपात किया किंतु इनकी जो सबसे बड़ी देन है वह है भाषा के अध्ययन को वैज्ञानिक आधार देना। बोआज़ को ये गुरुवत् मानते थे। इनको प्रभावित करने वालों में सस्यूर, बोआज़ और प्रोकोश के अतिरिक्त मनोविज्ञानवेत्ता वुंड्ट, वाटसन तथा वीज़ के नाम विशेष रूप से उल्लेख्य हैं।

(3)

ब्लूमफ़ील्ड के पूरे लेखन को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :

(क) **सैद्धांतिक**—भाषा-विश्लेषण के सिद्धांत से संबद्ध उनकी चार पुस्तकें हैं : 1. An introduction to the study of language (1914), 2. Outline guide for the practical study of foreign language (1929), 3. Language (1933), 4. Linguistic aspects of science (1939)। [यह मूलतः 'समेकित विज्ञान का अंतर्राष्ट्रीय विश्वकोश' (International Encyclopedia of Unified Science) के लिए एक काफ़ी लंबा लेख था, जो पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित है।] इन पुस्तकों के अतिरिक्त उनके

बहुत से लेख भी सैद्धांतिक हैं, जिनमें से कुछ मुख्य हैं : 1. Sentence and word (1914); 2. Subject and predicate (1916); 3. A set of postulates for the science of language (1926); 4. Philosophical aspect of language (1942).

(ख) **अनुप्रयुक्त** : अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान से संबद्ध उनकी कई पुस्तकें हैं, जिनमें से कुछ मुख्य हैं : 1. A semasiologic differentiation in Germanic secondary Ablaut (1909) (यह उनका थीसिस है), 2. Menomini texts (1928), 3. Eastern Ojibwa : Grammar, Text, Vocabulary (यह पुस्तक ब्लूमफील्ड की मृत्यु के नौ वर्ष बाद 1958 में छपी), 4. The Menomini language (यह पुस्तक उनकी मृत्यु के तेरह वर्ष बाद 1962 में छपी), 5. Menomini English lexicon (अप्रकाशित), 6. Cree-English vocabulary (अप्रकाशित), 7. Fox-English word list (अप्रकाशित)

इनके अतिरिक्त इनकी जर्मन, डच तथा रूसी भाषा-शिक्षण की पुस्तकें भी हैं, जो काफ़ी अच्छी हैं।

अनुप्रयुक्त विषयों पर उनके बहुत सारे लेख भी हैं, जिनमें से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण Menomini morphophenemics (1939) है।

(ग) **समीक्षाएं** : ब्लूमफ़ील्ड ने लगभग पैंतीस महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की समीक्षाएं लिखी थीं जिनमें उनकी विद्वत्ता और पैनी दृष्टि की छाप सर्वत्र है। उनमें कुछ मुख्य पुस्तकें हैं शेफ़ील्ड की 'Grammar and thinking', प्रोकोश (जिन्हें ब्लूमफ़ील्ड अपना गुरु मानते थे) की 'An introduction to German', वुंड्ट की 'Elements der Volkerpsychologie', सपीर की 'Language', येस्पर्सन की 'Language' तथा 'Philosophy of grammar', सस्यूर की 'Course de linguistique general' और ग्रे की 'Foundation of language'।

(4)

पश्चिम में 18वीं शती में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में काफ़ी काम हुआ किंतु वह प्रायः पूरा-का-पूरा ऐतिहासिक था। भाषा का एककालिक अध्ययन भी हो सकता है, इस बात की ओर उस सदी के भाषाशास्त्रियों का ध्यान प्रायः नहीं गया था, इसलिए इस दिशा में न तो कोई कार्य हुआ और न कोई चिंतन। ऐतिहासिक और एककालिक अध्ययन की ओर स्पष्ट संकेत करने का श्रेय सस्यूर को है। यों उनकी पुस्तक के प्रकाशन के पांच वर्ष पूर्व 1911 में प्राग के भाषाशास्त्री मैथेसियस ने अपने एक भाषण 'On the potentiality

of the Phenomena of language' में इस पर विचार किया था तथा उसके भी दो वर्ष पूर्व 1909 में उन्होंने मानक अंग्रेज़ी के एककालिक विश्लेषण पर एक वर्ष का एक कोर्स दिया था। रोमन याकोब्सन ने एक स्थान पर ठीक ही लिखा है कि यदि अपना यह भाषण मैथेसियस ने प्राग में न देकर मास्को में दिया होता तो रूसी भाषाशास्त्र में क्रांति आ गई होती। कहा जाता है कि उनके इस भाषण में कुछ ऐसी मौलिक बातें हैं जो सस्यूर में भी नहीं हैं (तिवारी, 1978, पृ० 38)। प्राग संप्रदाय के ही त्रुबेत्स्काय (1890-1939) तथा रोमन याकोब्सन (ज० 1896) उन दिनों ध्वनि के क्षेत्र में काम कर रहे थे। उधर स्कैंडनेविया में ब्रांडल (1887-1942) तथा येल्मस्लव (1899-1965) एवं अमेरिका में बोआज और सपीर भी अपने-अपने ढंग से भाषा के विश्लेषण से जूझ रहे थे। इस तरह 20वीं सदी के प्रथम चरण में भाषाशास्त्रियों का ध्यान भाषा के एककालिक अध्ययन पर केंद्रित तो हुआ किंतु अभी तक किसी ने व्यवस्थित रूप से ऐसी पद्धति नहीं दी थी जिसके आधार पर भाषा का सर्वांगीण एककालिक अध्ययन संपन्न किया जा सके। इस अत्यंत कठिन और महत्त्वपूर्ण कार्य को करने का श्रेय ब्लूमफ़ील्ड को है। बल्कि यह कहना कदाचित् अधिक उचित होता कि जैसे पाणिनि ने भाषा-विश्लेषण की एक अत्यंत समृद्ध परंपरा को अपने अष्टाध्यायी ग्रंथ के रूप में चरम परिणति पर पहुंचाया, ठीक उसी रूप में इस सदी में इस दिशा में हुए फुटकल कार्यों तथा चिंतन को ब्लूमफ़ील्ड ने अपने लेखन में संभवतः एक ऐसी पद्धति के रूप में विकसित किया जिसके आधार पर भाषा को, उसके तीनों महत्त्वपूर्ण पक्षों—ध्वनि, रूप, वाक्य—की दृष्टि से प्रथम बार विश्लेषित करने का द्वार खुला और उनके उसी बीज का हॉकिट, हैरिस आदि में विकसित रूप भाषाविश्लेषण के संरचनात्मक संप्रदाय के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

(5)

निगमनात्मकता

एक लंबे समय से वैज्ञानिक सिद्धांतों को दो स्पष्ट और भिन्न धरातलों पर प्रस्तुत करने की परंपरा चली आ रही थी। इनमें एक इंद्रिय संग्रहण करने की शक्ति (Power of sense perception) से संबद्ध थी, तो दूसरी प्रातिभ ज्ञान की शक्ति (Power of intellectual intuition) से जुड़ी थी। एक ने अनुभववाद (empiricism) के आधार पर आगमनात्मक पद्धति को जन्म दिया तो दूसरे ने प्रातिभज्ञान के आधार पर निगमनात्मक पद्धति को विकसित किया। ब्लूमफ़ील्ड पहले मत के अनुयायी थे, अतः उनके भाषिक सिद्धांत तथा

भाषा-विश्लेषण की प्रणाली में अनुभववाद और आगमनात्मक पद्धति अपने चरम बिंदु पर देखने को मिलती है। ब्लूमफ़ील्ड के पूर्व भी विद्वानों ने अनुभववाद का सहारा लिया, लेकिन जिस पद्धति को ब्लूमफ़ील्ड ने स्वीकार किया उसे उन्होंने पूर्णतः वैज्ञानिक बनाने का भी प्रयत्न किया। उनमें केवल सैद्धांतिक प्रतिबद्धता ही नहीं थी, बल्कि वे प्रणाली को लेकर भी एक अत्यंत सजग और सतर्क वैज्ञानिक थे। अतः यह कहा जा सकता है कि अनुभववाद के आधार पर जिस संरचनात्मक भाषाविज्ञान को ब्लूमफ़ील्ड के पहले के विद्वानों ने बढ़ाया था, उसको संक्रियात्मक (operational) स्तर पर सबसे पहले ब्लूमफ़ील्ड ने ही वैज्ञानिक बनाया।

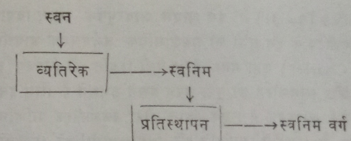
आगमनात्मक पद्धति के निम्नलिखित चरण माने जाते हैं—(1) पर्यवेक्षण (observation), (2) सामान्यीकरण (generalization), (3) परिकल्पना (hypothesis), (4) सिद्धांत (theory) और (5) वर्णनात्मक कथन (descriptive statement)। ब्लूमफ़ील्ड ने इनका पूर्णतः अनुसरण किया। भाषाविज्ञान के संदर्भ में उक्त चरणों को इस प्रकार देखा जा सकता है: तथ्य-पर्यवेक्षण, सामान्यीकरण अर्थात् तथ्यों का सामान्य गुणों के आधार पर वर्गीकरण, वर्गीकृत समूहों के बारे में परिकल्पना, सिद्धांत अर्थात् सामान्य व्याकरण और वर्णनात्मक कथन अर्थात् भाषिक तथ्यों को प्रस्तुत करना। इस संदर्भ में ब्लूमफ़ील्ड का यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है—

"भाषा का वही सामान्यीकरण उपयोगी होता है जो निगमनात्मक (पद्धति में ढला) हो...जब हमारे पास कई भाषाओं की पर्याप्त सामग्री हो तो हमें एक सामान्य व्याकरण बनाने के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए संबद्ध भाषाओं के बीच की समानताओं और भिन्नताओं की व्याख्या देनी होगी। लेकिन इस प्रकार का अध्ययन काल्पनिक न होकर आगमनात्मक होना चाहिए।" (लैंग्विज, पृ० 20)

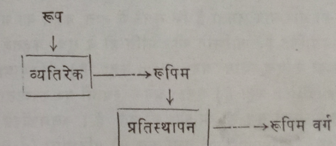
इस संदर्भ में दो तथ्यों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहला यह कि ब्लूमफ़ील्ड ने आगमनात्मक पद्धति के अंतिम चरण के रूप में वर्णनात्मक कथन को ही स्वीकार किया और उनके सभी अनुयायियों—हाकेट, जूस आदि—ने भी उसी का अनुसरण किया। बाद में चलकर इन अनुयायियों ने यह माना कि यह वर्णनात्मक कथन अपनी प्रकृति में सर्वसमावेशी[1] (exhaustive), संक्षिप्त[2] (simple) और तर्कसंगत[3] (logically consistant) होना चाहिए। आगे चलकर जूस ने तो यहां तक कहा कि कथन ही व्याख्या (explanation) है। चॉम्स्की ने अपने सिद्धांत में व्याख्या को सर्वोच्च स्थान दिया है। उनके मतानुसार भाषाविद् का लक्ष्य अंततः व्याख्या है न कि तथ्य-परक भाषिक उक्तियां। लेकिन ब्लूमफ़ील्ड के सिद्धांत से निःसृत अवधारणा

के मूल में जिस कथन की संकल्पना है, व्याख्या उसके भीतर ही समाहित है। दूसरा तथ्य ब्लूमफ़ील्ड के कथन--we are obliged predict···से जुड़ा हुआ है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आगमनात्मक पद्धति के अंतर्गत वैज्ञानिक चिंतन का सहारा लेते हुए ब्लूमफ़ील्ड ने अपने को व्यष्टिगत तथ्यों से ऊपर उठाते हुए कथन को सामान्य (generalized) बनाया। तथ्यों के आधार पर ब्लूमफ़ील्ड जो निष्कर्ष निकालना चाहते थे वे इन तथ्यों के अतिरिक्त अन्य तथ्यों को भी अपने में समेटने में समर्थ थे। ऐसे निष्कर्षों को उन्होंने पूर्वानुमान (prediction) के आधार पर सामने रखा। इस प्रकार, उनके अनुसार, अगर भाषाविद् वैज्ञानिक है तो सीमित भाषिक तथ्यों के आधार पर दिया गया सामान्यीकृत कथन केवल उन सीमित तथ्यों पर ही लागू नहीं होगा जो भाषाविद् के विश्लेषण के पहले सोपान थे, बल्कि उन अन्य सभी तथ्यों पर लागू होगा जो समान अभिलक्षणों से युक्त होंगे। इसी तथ्य को उन्होंने आंतरिक ढांचा (internal patterning) और भाषिक रूप (linguistic form) की संकल्पना द्वारा पकड़ा।

भाषिक रूप की संकल्पना को ब्लूमफ़ील्ड ने व्यतिरेक (contrast) और प्रतिस्थापन (substitution) की सहायता से संक्रियात्मक आधार दिया। व्यतिरेक और प्रतिस्थापन ऐसी संक्रियाएं हैं जो रूपात्मक वितरण (formal distribution) के आधार पर भाषा के तत्त्वों को अलग-अलग वर्गीकृत करती हैं। जब भाषा के किन्हीं दो तत्त्वों (ध्वनि या रूप के स्तर पर) का वितरण एक या एकाधिक संदर्भों में परस्पराच्छादी (overlapping) हो तो उन तत्त्वों का वितरण व्यतिरेकी (contrastive) कहा जाएगा और उन्हें दो अलग-अलग वर्गों में रखा जाएगा। दूसरी ओर, यदि दो तत्त्व स्पष्ट रूप से भिन्न-भिन्न संदर्भों में पाए जाएं और जिस संदर्भ में एक तत्त्व उपस्थित हो, उस संदर्भ में दूसरा तत्त्व न पाया जाए, तो उन दोनों तत्त्वों का वितरण व्यतिरेकी नहीं, अपितु पूरक (complementary) माना जाएगा। ऐसी स्थिति में वे दोनों तत्त्व एक ही वर्ग के दो सदस्य माने जाएंगे। प्रतिस्थापन की संक्रिया इन वर्गीकृत तत्त्वों को फिर से, नये ढंग से वितरित करती है : यदि दो या दो से अधिक तत्त्व कई समान संदर्भों (environments) में पाए जाएं तो उन तत्त्वों को एक ही वर्ग में रखा जाएगा। इस प्रकार, ध्वनि के स्तर पर ब्लूमफ़ील्ड ने आधार सामग्री के रूप में स्वन (phone) को लिया। उसके बाद व्यतिरेक की संकल्पना को व्यवहृत करते हुए इन्हीं स्वनों के आधार पर स्वनिम (phoneme) की संकल्पना तक पहुंचे। फिर इन्हीं स्वनिमों को आधार सामग्री बनाकर प्रतिस्थापन के आधार पर उन्होंने स्वनिम वर्ग (phoneme class) बनाया। यह पूरी प्रक्रिया नीचे आरेखित है—



इसी प्रणाली को उन्होंने रूप और वाक्य के विश्लेषण पर भी लागू किया, जो क्रमशः इस प्रकार हैं—



शब्द→ प्रतिस्थापन →शब्द वर्ग→वाक्य प्रकार (sentence type)

ब्लूमफ़ील्ड आगमनात्मकता के समर्थक थे और आगमनात्मक सिद्धांत की प्रणाली नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने की है, अत: वे अपनी पद्धति में स्वन से वाक्य प्रकार तक जाने के पक्ष में थे।

(6)

सैद्धांतिक भाषाविज्ञान

सैद्धांतिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से उनकी लेखनी से निःसृत स्थायी महत्त्व का प्रथम दस्तावेज उनका लेख 'भाषाविज्ञान के कुछ आधार सूत्र' (A set of postulates for the science of language) है जो 1926 में भाषाविज्ञान की प्रसिद्ध पत्रिका 'लैंग्विज' (भाषा) में प्रकाशित हुआ था। उस समय तो यह लेख युगांतरकारी था ही आज भी इसकी क्लासिकता असंदिग्ध है। इकत्तीस वर्ष बाद 1957 में जूस ने अपने सुप्रसिद्ध संकलन Readings

in Linguistics (पृ० 31) में इसे अत्यंत आदरपूर्वक स्थान दिया तथा यह कहा कि ब्लूमफ़ील्ड के इन सूत्रों को समसामयिक वर्णनात्मक भाषाविज्ञान का घोषणापत्र (Charter) कहा गया है।[4] ऐसी स्थिति में निश्चय ही ये सूत्र क्लासिक हैं, और ब्लूमफील्ड को पूरी तरह देखने-समझने के लिए इनकी जानकारी अनिवार्यतः आवश्यक है। एक बात और, ब्लूमफ़ील्ड पाणिनि के बहुत अधिक प्रशंसक थे (उन्होंने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' को 'मानवमेधा' का सर्वोत्तम स्मारक कहा है, 1933 : 11) तथा अपनी पुस्तक 'लैंग्विज' में जैसी ललक के साथ वे उनको एकाधिक स्थलों पर स्मरण करते हैं, उससे लगता है कि वे यह चाहते थे कि भाषाविज्ञान का लेखन अष्टाध्यायी जैसा स्पष्ट, सूत्रात्मक तथा सुव्यवस्थित हो। उनके इस लेख के सूत्रों को पढ़कर पाणिनि से परिचित व्यक्ति को बार-बार लगता है कि सूत्रों में बात कहने का यह उनका ढंग पाणिनि से प्रभावित है, पाणिनि की भांति ही वे सूत्र कहतेहैं (जिसे उन्होंने अपने शब्दों में एक स्थान पर axiom कहा है), परिभाषा देते हैं (जिसे उन्होंने definition कहा है) तथा अनेक स्थानों पर स्पष्टता के लिए पाणिनि की तरह ही अपने सूत्र की व्याख्या भी देते हैं। ब्लूमफ़ील्ड ने अपने कुछ सूत्रों को धारणा (assumption) तथा कुछ को परिभाषा (definition) कहा है। उन सूत्रों में प्रथम चार ये हैं—

1. बोलने की क्रिया उच्चार (utterance) है।
2. एक समाज में आनुक्रमिक उच्चार (successive utterance) समान या लगभग समान होते हैं।
3. ऐसा समाज एक भाषायी समाज होता है।
4. उस समाज की उच्चार-समग्रता (totality of utterance) उस भाषायी समाज की भाषा होती है।

ऐसे ही 11 से 20 तक हैं—

11. लघुतम मुक्त रूप शब्द हैं।
12. लघ्वेतर (non-minimum) मुक्त रूप पदबंध (phrase) है।
13. बद्धरूप (bound form), जो शब्द का भाग हो प्रत्यय[5] (formative) है।

(आठ वर्ष बाद ब्लूमफ़ील्ड ने जान केप्के को लिखे गये एक पत्र में उनकी आपत्ति पर यहां formative के प्रयोग को निरर्थक कहा। तब यह सूत्र होगा : 'बद्ध रूप शब्द का भाग होता है।')

14. किसी भाषा के रूपों की संख्या सीमित होती है।
15. अलग-अलग रूपिम उच्चारण की दृष्टि से समान या अंशतः समान हो सकते हैं।

16. औच्चारणिक अभिलक्षण (vocal feature) की लघुतम (minimum unit) इकाई स्वनिम (phoneme) प्रभेदक ध्वनि (distinctive sound) होती है।
17. किसी भाषा में स्वनिमों की संख्या, उसके रूपिमों की संख्या की तुलना में बहुत कम होती है।
18. भाषा का प्रत्येक रूप (form) स्वनिमों से ही बना होता है।
19. किसी भाषा के रूपिमों और शब्दों में स्वनिमों के क्रम की संख्या, संभावित क्रमों से बहुत कम होती है।
20. जो स्वनिम-क्रम किसी भाषा में व्यवहृत होते हैं, वे ही उसकी ध्वनि-अभिरचना (sound pattern) हैं।

समवेततः इन सूत्रवाक्यों में ब्लूमफ़ील्ड ने एककालिक भाषाविज्ञान कालक्रमिक भाषाविज्ञान, समाजभाषाविज्ञान तथा भाषाशिक्षण विषयक कुछ अत्यंत मूलभूत बातें संक्षेप में ली हैं।

इस लेख के प्रकाशन के सात वर्ष बाद ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'लैंग्विज' (भाषा) प्रकाशित की जिसे उनकी क्लासिक कृति माना गया है तथा जैसा कि पीछे सकेत किया जा चुका है, जिसे कुछ लोगों ने आधुनिक भाषाविज्ञान की बाइबल कहा है। इन सात वर्षों में ब्लूमफ़ील्ड के सिद्धांतों में कुछ परिवर्तन आया। कहने का आशय यह कि उपर्युक्त लेख तथा इस पुस्तक में भाषा-विषयक एक सिद्धांत नहीं है। किंतु आगे चलकर जिसे (डेविस 1973 : 87) भाषा का ब्लूमफ़ील्डीय सिद्धांत कहा गया, उसमें दोनों के ही तत्त्व हैं, तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान के ब्लूमफ़ील्डोत्तर सिद्धांत भी दोनों के समन्वित रूप के आधार पर ही विकसित किये गये हैं। कुछ लोगों की मान्यता यह रही है (उदाहरणार्थ पामर 1972 : 106) कि संरचनात्मक भाषाविज्ञान वास्तविक रूप में ब्लूमफ़ील्डीय (Bloomfieldian) न होकर ब्लूमफ़ील्डोत्तर (Post-Bloomfieldian) है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इसकी जड़ें ब्लूमफ़ील्ड में हैं, तथा और पीछे तक जाएं तो वे सपीर और बोआज में भी हैं। इस ब्लूमफ़ील्डोत्तर भाषाविज्ञान का भाषा के प्रति दृष्टिकोण ब्लूमफ़ील्ड की भांति ही व्यवहारवादी (behaviouristic) था, जिसकी मूल धारणा यह थी कि मनोवादी दृष्टि में जो भाषा का स्वरूप है, वह परीक्षणीय (verifiable) नहीं होता, किंतु बिना परीक्षणीयता (verifiability) के वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं है, अतः भाषा को उद्दीपन (stimulus) से उद्भूत औच्चारणिक अनुक्रिया (response) के रूप में लिया जाना चाहिए। यह दृष्टिकोण व्यवहारवादी मनोविज्ञान तथा नवप्रत्यक्षवाद (neopositivism) के प्रभाव से आया था।

ब्लूमफ़ील्ड की पुस्तक 'भाषा के अध्ययन की भूमिका' (An introduction to the study of language) का उद्देश्य सामान्य पाठकों को भाषाविज्ञान से परिचित कराना तथा भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन की उनमें रुचि पैदा करना है। इस पुस्तक में ब्लूमफ़ील्ड का भाषा के प्रति दृष्टिकोण, परंपरागत मनोविज्ञान पर आधारित है। जैसा कि स्वयं इसकी भूमिका में उन्होंने कहा है, इसकी बहुत-सी बातें वुंड्ट (W. Wundt) से ली गई हैं। भाषाविषयक प्रायः सभी बातों के लिए इस पुस्तक में ब्लूमफ़ील्ड बार-बार मनोविज्ञान का सहारा लेते हैं। अपने प्रारंभिक चरणों में उन्होंने भाषा का आधार मानसिक माना है। वे कहते हैं कि भाषा किसी भाषा-भाषी समाज के मानस में संचित अनुभवों के समूह का संश्लिष्ट रूप होती है, जो आभ्यासिक (Habitual) रूप में ध्वनियों द्वारा व्यक्त होता है। उनके अनुसार शब्द एक संश्लिष्ट मनोवैज्ञानिक रचना है। उसका अर्थ प्रत्यक्षज्ञानात्मक तथा भावात्मक मानसिक तत्त्वों का योग होता है।

ब्लूमफ़ील्ड की यह पहली पुस्तक 1914 में निकली थी। उसके बाद मनोविज्ञान के क्षेत्र में काफ़ी विकास हुआ। वाटसन (J. B. Watson, पुस्तक—Behaviourism 1924) ने परंपरागत मनोविज्ञान को अवैज्ञानिक सिद्ध करते हुए व्यवहारवाद का विकास किया। उनके सिद्धांत में बल इस बात पर था कि विशिष्ट परिस्थिति में व्यक्ति का जो व्यवहार होता है, वह अध्ययनीय-परीक्षणीय है। यह मनोवाद (mentalism) तथा व्यवहारवाद (behaviourism) मूलतः मनोविज्ञान में आये थे। पहला मनोविज्ञान का अध्ययन-अंतर्निरीक्षण (introspection) तथा आत्मप्रेक्षण (self-observation) पर आधारित करता है, तो दूसरा आंतरिक अतः अपरीक्षणीय चीजों पर मनोविज्ञान को न आधारित करके मनोविज्ञान के अध्ययन को वस्तुपरक (objective) बनाते हुए मानव-व्यवहार पर आधारित करता है जो बाहर दिखाई पड़ता है, अध्ययन-विश्लेषणीय है, तथा जो आंतरिक प्रतिक्रियास्वरूप बाह्य जगत् में होता हुआ उद्दीपक (stimulus) की अनुक्रिया (response) दीखता है। ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी पहली पुस्तक (1914) में भाषा के संबंध में मनोवादी दृष्टि से बातें की थीं, किंतु अपनी दूसरी पुस्तक (लैंग्विज, 1933) में उन्होंने, भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान आदि किसी अन्य विषय पर आधारित करने का विरोध किया (कोपेनहेगेन संप्रदाय के immanent method की भांति) तथा यह कहा कि भाषा का पूर्ण वैज्ञानिक अध्ययन तभी संभव है जब 'भाषाविज्ञान' गात्र अपने पैर पर खड़ा हो तथा भाषा वक्ता के मानसिक पक्ष से न जोड़ी जाकर प्रतिक्रियास्वरूप मौखिक व्यवहार के रूप में ली जाए। भाषा उनके अनुसार उद्दीपक की अनुक्रिया होती है—मौखिक अनुक्रिया।

ब्लूमफ़ील्ड ने इसे एक उदाहरण द्वारा समझाया। जिल ने पेड़ पर एक सेब देखा। उसकी भूख उद्दीपक थी, अतः उसमें उसे पाने की अनुक्रिया हुई। अब या तो अनुक्रियास्वरूप वह स्वयं सेब ले या बोलकर किसी से सेब मांगे। उसने जेक से सेब तोड़कर लाने को कहा—अर्थात् अनुक्रिया भाषिक व्यवहार के रूप में व्यक्त हुई। इस प्रकार कोई भी उद्दीपक दो रूपों में अनुक्रिया उत्पन्न कर सकता है : 'कार्य' या 'भाषा'। जिल की भाषिक अनुक्रिया जैक के लिए उद्दीपक का काम करती है और वह सेब तोड़कर ला देता है। अर्थात्—

$$S \rightarrow \underbrace{r \ldots\ldots\ldots s}_{\text{Language}} \rightarrow R$$

इस प्रकार ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार किसी उद्दीपक से प्रेरित 'भाषिक व्यवहार' या 'भाषिक अनुक्रिया' ही 'भाषा' है। ब्लूमफ़ील्ड ने मनोवादी (mentalistic) दृष्टिकोण के विपरीत इस दृष्टिकोण को यांत्रिक (mechanistic) कहा है। ब्लूमफ़ील्ड के दृष्टिकोण में इस विकास या परिवर्तन के मूल में वाटसन के अतिरिक्त वीज़ (A. P. Weiss—पुस्तक A theoretical basis of human behaviour, 1924), वीज़ के गुरु मेयर (M. Meayer) एवं ब्लूमफ़ील्ड के अपने अनुभव का भी हाथ था। यों फ्रीज़ (C. C. Fries) ने केवल वीज़ का प्रभाव माना है, वाटसन का नहीं (मोरमान 1963 : 205)। साथ ही वे इन नये तत्त्व को ब्लूमफ़ील्ड में 1914 से ही मानते हैं, और ब्लूमफ़ील्ड की भाषा की भूमिका से सूत्र लेते हुए इस बहु-स्वीकृत बात में कि ब्लूमफ़ील्ड पहले मनोवादी थे फिर व्यवहारवादी हो गए, अपनी अनास्था-सी व्यक्त करते हैं।

ब्लूमफ़ील्ड के भाषा संबंधी यंत्रवादी (mechanistic) विचार उनके ध्वनि-विषयक विचारों में भी मिलते हैं। वे स्वनिम की भौतिक सत्ता मानते थे। 13 अप्रैल, 1934 को विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय के भाषा और साहित्य क्लब में दिए गए अपने भाषण में उन्होंने एक प्रकार से भविष्यवाणी की थी कि अगले दस वर्षों में किसी भाषा के स्वनिम प्रयोगशाला में, या अपने भौतिक गुणों के आधार पर निर्धारित किये जा सकेंगे। कहना न होगा कि उनकी यह भविष्यवाणी सही नहीं निकली, और न भविष्य में इसकी कोई संभावना है। स्वनिम की परिभाषा ब्लूमफ़ील्ड ने एकाधिक स्थानों पर दी है। अपनी पुस्तक 'लैंग्विज' (पृ० 79) में वे 'प्रभेदक ध्वनि-लक्षणों की लघुतम इकाई' (a minimum unit of distinctive sound-feature) रूप में स्वनिम को परिभाषित करते हैं। कहना न होगा कि यह परिभाषा भी उनके अमनोवादी दृष्टिकोण के अनुरूप ही है। स्वनिम के उन्होंने मूलतः दो भेद किये हैं : मुख्य

(स्वर, व्यंजन) तथा गौण (बलाघात तथा अनुतान आदि)। आगे मुख्य के मूल तथा संयुक्त (संयुक्त स्वर) दो उपभेद करते हैं। किसी भाषा के स्वनिमों की पहचान उनके अनुसार तुलना के आधार पर हो सकती है। ब्लूमफ़ील्ड ने स्वनिम को अविभाज्य कहा है।

सामान्यत: ब्लूमफ़ील्ड के ध्वनि-विषयक विचारों का मूल्यांकन उनकी पुस्तक 'लैंग्विज' तथा उनके कुछ सैद्धांतिक लेखों के आधार पर किया गया है, किंतु वास्तविकता यह है कि उनके 'मेनॉमिनी' तथा 'आल्जिब्वा' भाषा से संबंधित लेखों में भी ध्वनि-विषयक बहुत महत्त्वपूर्ण बातें हैं। बेवर अपने शोध-प्रबंध 'Bloomfield and the phonology of the Menomini' (Doctoral diss~rtation MIT 1967) में व्युत्पादक स्वनिमविज्ञान से तुलना करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मेनॉमिनी भाषा की ध्वनियों पर विचार करते समय ब्लूमफ़ील्ड कुछ ऐसे सिद्धांतों का प्रयोग कर रहे थे, जो आज प्रजनक स्वनिमविज्ञान में काम में लाये जाते हैं। इस प्रकार इन कुछ सूत्रों के आधार पर बेवर इन्हें पूर्व-प्रजनक स्वनिमविज्ञानी-सा मानते दीखते हैं, किंतु ऐसा निष्कर्ष कदाचित् आवश्यकता से कुछ अधिक साहसिक है। हां, प्रजनक ध्वनि-प्रक्रिया की कुछ बातें संकेत रूप में उसमें अवश्य विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए रूपांतर प्रजनक व्याकरण में अपेक्षित भाषिक इकाई के प्रजनन के लिए नियमों को विशेष क्रम में लागू करना पड़ता है जिसे नियमों का क्रम (order or rules) कहते हैं। रूपांतर प्रजनक वैयाकरणों के अनुसार नियमों को, विशेष क्रम में, बिना किसी विशेष क्रम से, या किसी अन्य क्रम से लागू किया जाए तो पहला, दूसरे या तीसरे की तुलना में, कम पेचीदा होगा। उदाहरणार्थ, मान लें 'क' को आंतरिक संरचना से प्रजनित करने के लिए हमें 'ग', 'ज', 'द'—इन तीन नियमों की आवश्यकता है। 'क' को उपर्युक्त नियमों की सहायता से तीन प्रकार से प्रजनित किया जा सकता है—(1) उपयुक्त क्रम में नियमों को लागू करके, (2) अक्रमबद्ध रूप में नियमों को लागू करके, (3) 'ज' 'द' 'ग' के क्रम में नियमों को लागू करके। 'क' तीनों ही ढंगों से प्राप्त किया जा सकता है, किंतु पहले क्रम से प्रजनन अधिक सुव्यवस्थित और संक्षिप्त होगा। जैसा कि चॉम्स्की तथा हाले (1967 : 17) ने उल्लेख किया है, ब्लूमफ़ील्ड के 'मिनॉमिनी मॉरफ़ोफ़ोनीमिक्स' (1939) में भी कुछ इसी प्रकार से नियमों की क्रमबद्धता के संकेत मिलते हैं। वे दिखाते हैं कि उनके द्वारा दिए गए ग्यारह नियमों को विशेष क्रम में न रखें तो अधिक जटिलता आ जाएगी।

'शब्द' की ऐसी परिभाषा देना जो सभी भाषाओं पर लागू हो, काफ़ी कठिन है। अपनी कमियों के बावजूद आधुनिक काल में इस दिशा में सबसे

सफल प्रयास ब्लूमफ़ील्ड का है जैसा कि पीछे भी संकेत दिया जा चुका है। वे शब्द को 'लघुतम मुक्त रूप' (minimum free form) कहकर परिभाषित करते हैं। इसकी मुख्य कमी केवल एक ही है कि इस परिभाषा में उनका ध्यान स्वनिमिक शब्द (phonological w:rd) पर है, व्याकरणिक शब्द (grammatical word) पर नहीं। वस्तुत: लगता है कि इन दोनों संकल्पनाओं का अंतर उन्हें बहुत स्पष्ट नहीं था। एक स्वनिमिक शब्द एकाधिक व्याकरणिक शब्दों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। उदाहरण के लिए हिंदी 'आया' एक स्वनिमिक शब्द है, किंतु व्याकरणिक स्तर पर दो शब्द हैं। एक संज्ञा तथा दूसरा क्रिया। ऐसे ही अंग्रेज़ी 'कट्' (cut) स्वनिमिक शब्द तो एक है, किंतु व्याकरणिक शब्द तीन हैं : एक वर्तमान काल का, एक भूतकाल का, तथा एक भूतकालिक कृदंत।

रूप-रचना पर भी ब्लूमफ़ील्ड ने काफ़ी विस्तार से विचार किया है। उनके अनुसार रूप (form) दो प्रकार के हैं : (क) मुक्त (free)—जो भाषा में अकेले आ सकते हैं। (ख) बद्ध (bound)—ये अकेले कभी नहीं आते। इसके आधार पर ब्लूमफ़ील्ड शब्द दो प्रकार के मानते हैं : (क) प्राथमिक (primary) शब्द—जिनमें या तो एकाधिक बद्ध रूप हों या केवल एक मूल रूप हो। इसके दो भेद होते हैं : (1) यौगिक (derived primary word) जिसमें एकाधिक बद्ध रूप हों, जैसे अंग्रेज़ी (re-ceive, de-ceixe, conceive), या हिंदी वि-ज्ञ, अ-ज्ञ। (2) मूल (morpheme word)—ये यौगिक नहीं होते। इनमें केवल एक मुक्त रूप होता है। जैसे लाल, मेज, घर। (ख) द्वितीयक (secondary) शब्द—जिनमें मुक्त रूप हों। इसके भी दो भेद होते हैं : (1) समस्त (compound) शब्द—जिसमें एकाधिक मुक्त रूप हों, जैसे घोड़ागाड़ी, जिलाधीश। (2) व्युत्पन्न (derived secondary) शब्द—जिसमें एक मुक्त रूप तथा अन्य बद्ध रूप हों, जैसे सरलता (सरल+ता), विदेशी (वि+देश+ई)।

'रूपिम' (morpheme) को ब्लूमफ़ील्ड ने भाषा की लघुतम सार्थक[8] इकाई कहा है। उनकी ठीक परिभाषा है : 'वह भाषिक रूप जिसकी किसी अन्य भाषिक रूप से ध्वनि और अर्थ के स्तर पर आंशिक समानता न हो।' अर्थात् किसी भाषा के रूपिम ज्ञात करने के लिए भाषिक रूप को उस समय तक विश्लेषित करते जाना चाहिए, जब तक कि किसी भी दो भाषिक इकाइयों के कोई भाग ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से समान न रह जाएं। उदाहरण के लिए 'अनुकरणीयता' लें। 'अनुवाद', 'अनुसरण' आदि से तुलना करें तो इन तीनों में 'अनु' ध्वनि और अर्थ की दृष्टि से समान है; 'सुकर', 'दुष्कर' से तुलना करें तो 'कर' समान है; 'वरण', 'मरण' से तुलना करें तो 'ण' समान

है, 'भारतीय', 'माननीय' से तुलना करें तो 'ईय' समान है, तथा 'सुंदरता' 'बहुलता' से तुलना करें तो 'ता' समान है। किंतु 'अनु' 'कर' 'ण' 'ईय' 'ता' से किसी भी अन्य रूपिम के किसी अंश से ध्वनि और अर्थ के स्तर पर समानता नहीं है। अतः 'अनुकरणीयता' में पांच रूपिम हैं : अनु, कर, ण, ईय, ता।

रूपिम के अर्थ को ब्लूमफ़ील्ड ने अर्थिम (sememe) तथा किसी भाषा के रूपिम-भंडार को रूपिम-कोश (lexicon) कहा है।

इन्हीं रूपिमों की व्यवस्था भाषा में होती है। यह व्यवस्था 'क्रम' (रूपिमों का क्रम), 'परिवर्तन' (modification जैसे 'do not' का प्रयोग don't), 'चयन' (selection अर्थात् क्रिया, संज्ञा, विशेषण आदि में क्या चुनें) तथा 'गौण स्वनिम' (बलाघात, अनुतान आदि) के प्रयोग पर निर्भर करती है।

रूपों की सार्थक व्यवस्था ही व्याकरण है। व्याकरणिक व्यवस्था को ही ब्लूमफ़ील्ड (1933 : 166) ने 'पदिम' (taxeme) कहा है। जैसे स्वनिम से रूपिम की रचना होती है, उसी प्रकार 'पदिम' से व्याकरण की। परंपरागत व्याकरणिक व्यवस्था या पदिम-विन्यास में पदिम होता है। पदिम-विन्यास, अपने अर्थ के साथ व्याकरणिक रूप है। व्याकरणिक रूप की लघुतम इकाई टैगमीम (tagmeme) है तथा उसका अर्थ है ऐपिसेमीम (episememe)। व्याकरणिक रूप के तीन वर्ग बनाये जा सकते हैं : (क) वाक्य-प्रकार (sentence-type) जैसे सामान्य कथन, प्रश्न, आश्चर्यसूचक कथन; (ख) रचना (construction), जिसमें वाक्य-रचना तथा रूप-रचना को अलगाया जा सकता है। वाक्य-रचना मुक्त रूपों से होती है, तथा रूप-रचना बद्ध रूपों से; (ग) प्रतिस्थापना (substitution) अर्थात् एक के स्थान पर दूसरे को लाना। जैसे संज्ञा के स्थान पर सर्वनाम।

ब्लूमफील्ड ने रूपों के प्रसंग में परिवर्तों (alternants) की भी चर्चा की है : ध्वन्यात्मक परिवर्त (जैसे book-books, dog-dogs; यहां पहले में 'स' है पर दूसरे में 'ज़' है); अनियमित परिवर्त (जैसे knife, mouth, house) तीनों के अंत में अघोष व्यंजन है किंतु इनके बहुवचन 'नाइव्-'ज़, 'माउद्-ज़', 'हाउज़-इज़' बनते हैं); शून्य परिवर्त (जैसे वर्तमान, भूत, भूतकृदंत में hit या एकवचन-बहुवचन में sheep); प्रतिस्थापन परिवर्त (goose-geese, man-men, take-took); लोप-परिवर्त (minus feature; जैसे फ्रांसीसी विशेषणों में स्त्री० platte (चपटा) में से te का लोप करने से पुं० plat उच्चारण में स्त्री० plat है तो पुं० pla)।

ब्लूमफ़ील्ड के अनुसार 'वाक्य वह स्वतंत्र भाषिक इकाई है जो व्याकरणिक दृष्टि से किसी बड़ी इकाई का अंग न हो।' वे उदाहरण देते हैं 'तुम कैसे हो? आज बड़ा सुहावना दिन है। क्या शाम को टेनिस खेलने चलोगे?' वे कहते हैं कि व्यावहारिक धरातल पर इनमें जो भी संबंध हो, व्याकरणिक धरातल पर ये संबद्ध नहीं हैं, अतः ये तीन वाक्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके अनुसार 'वाक्य भाषा की वृहत्तम इकाई है।' अमरीकी संरचनात्मक भाषाविज्ञान मुख्यतः ध्वनि और रूप के अध्ययन पर ही केंद्रित रहा है। वाक्य के क्षेत्र में उसकी मुख्य देन निकटस्थ अवयव (immediate constituent) की दृष्टि से विश्लेषण है। यह भी मूलतः ब्लूमफ़ील्ड की ही देन है। 'इमिडिएट कन्स्टीचुएंट' उन्हीं का बनाया हुआ शब्द है। उनका उदाहरण है 'बेचारा जान भाग गया' (poor John ran away)। इसमें दो निकटस्थ अवयव हैं 'बेचारा जान' तथा 'भाग गया'। फिर इन दोनों में क्रमशः दो-दो निकटस्थ अवयव हैं 'बेचारा' तथा 'जान' और 'भाग' तथा 'गया'। यहां तो द्विचर (binary) विश्लेषण हैं। एक का दो, फिर दोनों के क्रमशः दो-दो। निकटस्थ अवयव विश्लेषण में प्रायः द्विचर विश्लेषण ही चलता है किंतु कभी-कभी त्रिचर तथा चतुश्चर की भी आवश्यकता पड़ती है।

जैसा कि हम आगे देखेंगे निकटस्थ अवयव-विश्लेषण में रचनाएं दो प्रकार की मिलती हैं : अंतःकेंद्रिक(endocentric) तथा बहिष्केंद्रिक (exocentric)। ये दोनों पारिभाषिक शब्द तथा इनसे अभिहित रचना में अंतर भी मूलतः ब्लूमफ़ील्ड की ही देन है। अंतःकेंद्रिक रचना उसे कहते हैं, जिसमें का एक अवयव पूरी रचना के स्थान पर आ सके। उदाहरणार्थ 'मनोहर का छोटा लड़का गया' में 'मनोहर का छोटा लड़का' अंतःकेंद्रिक रचना है, क्योंकि 'मनोहर का छोटा लड़का' रचना के स्थान पर वाक्य में इसी रचना का एक अवयव 'लड़का' भी आ सकता है : 'लड़का गया'। इसके विपरीत जो रचना अंतःकेंद्रिक न हो, उसे बहिष्केंद्रिक रचना कहते हैं। उदाहरणार्थ 'लड़का गया' में न तो 'लड़का' 'लड़का गया' के स्थान पर आ सकता है और न 'गया' 'लड़का गया' के स्थान पर। ऐसे ही घर में 'मोहन को' 'घोड़े से' आदि भी बहिष्केंद्रिक रचनाएं हैं।

ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी पुस्तक ('लैंग्विज'—9वां अध्याय) में भाषा के अर्थ-पक्ष पर भी विचार किया है, किंतु वहां भी उनका दृष्टिकोण वही अमनोवादी है। ऊपर भाषा के किसी उद्दीपक की अनुक्रिया होने की बात कही जा चुकी है। किसी उद्दीपक की अनुक्रिया किसी कार्य अथवा बोलने (भाषा) के रूप में होती है, किंतु इन दोनों में अंतर है। 'बोलना' अपने-आप में महत्त्वपूर्ण नहीं है, यदि उसका अर्थ न हो। ब्लूमफ़ील्ड कहते हैं कि किसी भाषिक रूप का अर्थ 'वह स्थिति जिसमें वक्ता उसका प्रयोग करता है' तथा 'वह अनुक्रिया जो उससे श्रोता में उत्पन्न होती है' में निहित होता है। ऐसी स्थिति में किसी

भाषिक रूप के अर्थ को ठीक-ठीक तब बतलाया जा सकता है जब उसका संबंध किसी ऐसी चीज से हो, जिसकी हमें वैज्ञानिक जानकारी हो। किंतु प्रत्येक 'स्थिति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंश वक्ता की मानसिक स्थिति, तथा बोलने के समय तक का उसका अनुभवजन्य ज्ञान (जो परंपरा, क्षेत्र, भाषा आदि अनेकानेक चीजों पर आधृत है) आदि है, जिनकी वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करना संभव नहीं है। ब्लूमफ़ील्ड का कहना है कि इसीलिए अर्थ के ठीक अध्ययन में भाषाविज्ञान बहुत समर्थ नहीं है, तथा यह स्थिति तब तक बनी रहेगी, जब तक कि हम उपर्युक्त बातों का वस्तुपरक अध्ययन करने की स्थिति में न आ जाएं।

स्पष्ट ही ब्लूमफ़ील्ड का कहना अपनी जगह पर ठीक है। इसी से सूत्र पकड़कर ब्लूमफ़ील्ड परंपरा के परवर्ती भाषाशास्त्रियों ने भाषा-विश्लेषण में अर्थ को नहीं लिया। हैरिस की पुस्तक 'संरचनात्मक भाषाविज्ञान', ग्लीसन की पुस्तक 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की भूमिका' तथा हॉकिट की पुस्तक 'आधुनिक भाषाविज्ञान की रूपरेखा' आदि में इसीलिए भाषा के अन्य पक्षों को लिया गया है, किंतु अर्थ को नहीं। ब्लॉक (1948) की भी यही स्थिति है। इन्हीं आधारों पर अमरीका में तथा उसके बाहर भी यह धारणा रही है कि अमरीकी भाषाविज्ञान—मुख्यत: ब्लूमफ़ील्ड संप्रदाय में भाषा के अर्थपक्ष पर विचार नहीं किया जाता। फ़र्थ ने (Transaction of the philological society, 1951 : 82) कहा है, 'कुछ मूर्धन्य भाषाशास्त्रियों ने मुख्यत: अमरीका में भाषाविज्ञान से अर्थ के अध्ययन को निकाल दिया है।' केरोल (1950 : 15) भाषा-विश्लेषण में अर्थ के निष्कासन के संबंध में कहते हैं, 'वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की पद्धति (जैसी कि आज अमरीका में प्रचलित है) की सामान्य विशेषता है, बिना अर्थ को बीच में लाए भाषा का विश्लेषण करना।' यह ध्यान देने योग्य है कि ब्लूमफ़ील्ड ने अर्थ के अध्ययन को उस समय तक स्थगित करने का संकेत दिया था, जब तक आगमनात्मक पद्धति अपने विश्लेषणात्मक उपकरण विकसित न कर ले, किंतु उनके अनुयायियों ने संक्रियात्मक (operational) सीमा को सैद्धांतिक सीमा बना दिया।

इसमें संदेह नहीं कि ब्लूमफ़ील्ड ने अर्थ के अध्ययन के रास्ते में आने वाली कठिनाई को स्पष्ट शब्दों में कहा, और आंख मूंदकर उनके रास्ते पर चलने वाले कुछ भाषाशास्त्रियों ने अपने भाषा-विश्लेषण में अर्थ से भरसक बचने का यत्न किया, किंतु साथ ही यह भी सत्य है कि ब्लूमफ़ील्ड ने स्वयं अर्थ पर एकाधिक स्थलों[7] पर विचार किया तथा उनके समय और उनकी धारणा के अनेक भाषाशास्त्रियों (Nida—A system for the description of semantic elements; Wells-Meaning and use; Joos-Semiology : a linguistic theory of meaning आदि) ने भाषा के अर्थ-पक्ष का विश्लेषण किया। यही नहीं, सैद्धांतिक दृष्टि से अमरीकी संरचनावादियों ने भाषा-विश्लेषण में अर्थ को बीच में न लाने की बातें चाहे कितनी भी जोर से क्यों न कहीं हों, वास्तविक विश्लेषण में उन्होंने स्वनिमविज्ञान तथा रूपिमविज्ञान दोनों ही में अर्थ की सहायता ली। स्वनिमविज्ञान में स्वनिम का अर्थ-भेदक कहा जाना, या न्यूनतम विरोधी युग्मों (minimal pairs) के आधार पर स्वनिमों का निर्धारण, अर्थ-निरपेक्ष नहीं है। ब्लूमफ़ील्ड ने स्पष्ट शब्दों में (1933 : 77-8) कहा भी है कि 'स्वनिमविज्ञान में अर्थ-विचार की आवश्यकता पड़ती है।' रूपिमविज्ञान में भी यही बात है। ब्लूमफ़ील्ड ने स्वयं रूपिमों की खोज के लिए ध्वनि तथा अर्थ की दृष्टि से आंशिक समानता की बात की है। रूपिमविज्ञान में रूपिम तथा उपरूप के निर्धारण में अर्थ की सहायता प्राय: अनिवार्यत: आवश्यक है, इसलिए ब्लूमफ़ील्ड की परंपरा की पुस्तकों में 'रचना' तथा 'रूप' के प्रसंग में प्राय: अर्थ-संकेत (gloss) के रूप में उसे सर्वत्र दिया जाता रहा है।

अर्थ के प्रसंग में यह भी उल्लेख्य है कि ब्लूमफ़ील्ड की दृष्टि केवल शाब्दिक या तार्किक अर्थ तक ही नहीं गई बल्कि प्रयोगार्थपरक सूक्ष्म अर्थ की ओर भी उन्होंने संकेत किया है। उदाहरणार्थ, वे 'मुझे भूख लगी' इस वाक्य के दो संदर्भपरक अर्थों का विश्लेषण करते हुए कहते हैं—

कोई भूखा भिखारी एक घर के दरवाजे पर जाकर कहता है, **मुझे भूख लगी है** और घर की मालकिन उसे खाना दे देती है। लह घटना **मुझे भूख लगी है** के मुख्य या कोशगत अर्थ को मूर्त करती है। एक हठी बच्चा सोने के समय कहता है **मुझे भूख लगी है** और उसकी मां जो उसकी शरारतों से भली भांति परिचित है, जवाब में उसे बिस्तर पर ले जाकर सुला देती है। यह विस्थापित भाषा (displaced speech) का एक उदाहरण है···इन परिवर्त अर्थों (variant meanings) की एक विशिष्टता यह है कि इनमें से एक सामान्य (या मुख्य) अर्थ के रूप में तथा दूसरा सीमांत (marginal), लाक्षणिक या स्थानांतरित अर्थ के रूप में सर्वसम्मत और सर्वमान्य है। (लैंग्विज, पृ० 141-2)

इस प्रकार ब्लूमफ़ील्ड को अर्थ-विचार का विरोधी कहना ग़लत है। 1935 में अपने एक निजी पत्र में इस पर उन्होंने दु:ख प्रकट किया था।[8] (तिवारी, 1978 : 82)

(7)

समाजभाषाविज्ञान

समाजभाषाविज्ञान के रूप में भाषा के अलग अध्ययन की नींव तो प्राय:

इस सदी के उत्तरार्द्ध में पड़ी है किंतु समाज के परिप्रेक्ष्य में भाषा के अध्ययन का प्रारंभ न्यूनाधिक रूप से पिछली सदी में ही हो गया था। यों जहां तक ब्लूमफ़ील्ड का संबंध है उनका मुख्य सरोकार भाषा की संरचना का समाज-निरपेक्ष अध्ययन था, किंतु समाज-सापेक्ष अध्ययन की सार्थकता से वे अपरिचित हों, ऐसी बात नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है उनकी पुस्तक 'भाषा' का 'भाषायी समाज' (speech community) शीर्षक अध्याय। वस्तुतः समाज-भाषाविज्ञान ने 'भाषायी समाज' की संकल्पना ब्लूमफ़ील्ड से ही ली है। उन्होंने ही सबसे पहले इस पदबंध का प्रयोग इस अर्थ में किया था तथा इसकी व्याख्या भी की (ब्लूमफील्ड 19'3 : 42)। भाषायी समाज किसी ऐसे समाज को कहते हैं, जिसके सदस्य विचारों की अभिव्यक्ति करने तथा भाषिक अभिव्यक्ति के माध्यम से एक-दूसरे को समझने की दृष्टि से आपस में बंधे होते हैं। दूसरे रूप में इसे यों भी कहा जा सकता है कि किसी भाषायी समाज में भाषिक अभिव्यक्ति की व्यवस्था दो प्रकार के नियमों पर आधारित होती है : (क) भाषा विशेष में अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के नियम जिनका प्रयोग वक्ता करता है, तथा (ख) भाषा विशेष में व्यक्त विचारों को समझने के नियम जिनका प्रयोग श्रोता करता है। ये ही दोनों नियम किसी भाषायी समाज के सदस्यों के मस्तिष्क में समान रूप से विद्यमान होते हैं, और इन्हीं के कारण वे लोग अभिव्यक्ति के स्तर पर आपस में बंधे होते हैं।

भाषायी समाज की प्रकृति मोटे रूप से तीन बातों पर निर्भर करती है : (क) संप्रेषण का घनत्व (density af communication), (ख) प्रतीकात्मक एकता (symbolic integration), (ग) किसी भाषायी समाज द्वारा प्रयुक्त भाषा और या बोलियों की निश्चित संख्या। इनमें सर्वाधिक महत्त्व 'संप्रेषण का घनत्व' का है। संप्रेषण के घनत्व की संकल्पना भी मूलतः ब्लूमफ़ील्ड की देन है। उन्हीं ने इस पदबंध का सबसे पहले इस अर्थ तथा संदर्भ में प्रयोग किया।

इस तरह समाज भाषाविज्ञान में प्रायः प्रयुक्त होने वाली ये दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण संकल्पनाएं···'भाषायी समाज' तथा 'संप्रेषण का घनत्व'—समाज-भाषाविज्ञान को ब्लूमफ़ील्ड की प्रत्यक्ष देन होकर, इस अपेक्षाकृत नए विषय को उनसे कितना जोड़ देती है. कहने की आवश्यकता नहीं।

समाजभाषावैज्ञानिक लोग अन्य भाषावैज्ञानिकों पर एक आरोप प्रायः लगाते हैं कि ये लोग भाषा का विश्लेषण उसे समरूपी (homogeneous) मानकर करते हैं, किंतु भाषा वस्तुतः विषमरूपी (heterogeneous) होती है। यह बात ध्यान देने की है कि ब्लूमफ़ील्ड अन्य भाषावैज्ञानिकों में होते हुए इस दृष्टि से अपवाद हैं। उनका ध्यान भाषा की विषमरूपता की ओर खूब

गया था और इसीलिए और तो और उन्होंने भाषा के मानक रूप को भी एक न मानकर किसी भाषायी समाज की जटिलता को ध्यान में रखते हुए तीन प्रकार का माना—

(क) लेखन में प्रयुक्त मानक जिसका प्रयोग लेखन में तथा औपचारिक बातचीत में होता है।

(ख) बोलचाल में प्रयुक्त मानक जिसका प्रयोग उच्च वर्ग के लोग करते हैं।

(ग) प्रादेशिक मानक जिसका प्रयोग विभिन्न प्रदेशों के लोग करते हैं। यदि हिंदी से उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट करना चाहें तो हरियाणा में मानक हिंदी का एक रूप है तो बिहार में दूसरा है और राजस्थान में- तीसरा है। वस्तुतः प्रादेशिक मानक में प्रत्येक प्रदेश की स्थानीय छाप होती है।

इसके अतिरिक्त अपमानक, स्थानीय बोली, तथा स्त्री भाषा आदि अन्य भाषा रूपों का भी उन्होंने उल्लेख किया है।

प्रयुक्ति के लिए अंग्रेज़ी में प्रयुक्त 'रजिस्टर' शब्द का प्रयोग ब्लूमफ़ील्ड में नहीं है, किंतु इसकी संकल्पना उनमें है। उन्होंने (1939 क : 42) प्रकृत भाषा (natural language) पर विचार करने के बाद अप्रकृत भाषा के रूप में वैज्ञानिक भाषा (scientific language) पर विचार किया है जिसमें वे विभिन्न ज्ञानों-विज्ञानों के क्षेत्र में काम करने वाले वैज्ञानिकों तथा बढ़इयों, मछुवारों एवं खनकों आदि की भाषा लेते हैं। वे कहते हैं कि भाषा के ये रूप प्रकृत भाषा से मुख्यतः पारिभाषिक शब्दावली में अलग होते हैं फिर वे कहते हैं कि विभिन्न शिल्पों और व्यवसायों की भाषा की बात छोड़ दें, तो विभिन्न विज्ञानों के प्रयोग में भाषा में बहुत यथातथता (exactness) आ जाती है। उनके अनुसार विज्ञान की भाषा भी दो प्रकार की होती है : अनौपचारिक तथा औपचारिक। अनौपचारिक में पारिभाषिक शब्दों को छोड़-कर भाषा प्रायः प्रकृत भाषा ही होती है, किंतु अनौपचारिक में शब्द तो पारिभाषिक होते ही हैं, उसकी वाक्य-रचना भी विशिष्ट प्रकार की होती है। इसका प्रयोग लेखन में होता है। उदाहरण के लिए पूर्ण रूप से अभिव्यक्त वाक्य (full sentence) का ही उनमें प्रयोग होता है, अपूर्ण (minor sentence) रूप से अभिव्यक्त का नहीं। अपूर्ण वाक्य से उनका आशय एक या दो शब्दीय या पदबंधीय वाक्य से है जिनका प्रयोग बातचीत में होता है। जैसे 'कल' ('कब आओगे' के उत्तर स्वरूप), 'अच्छा तो' (अच्छा तो मैं चला), 'उससे क्या ?' ('मैंने उसे मार डाला' की प्रतिक्रिया स्वरूप 'उससे क्या होगा ?' के लिए) आदि। आगे विभिन्न विज्ञानों की भाषा भी एक-दूसरी से न्यूनाधिक रूप

से भिन्न होती है, जैसे 'गणित की भाषा' 'प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र' (symbolic log:c)की भाषा तथा 'भौतिकी की भाषा' आदि ।

(8)

व्याकरण

यह बात बड़ी अजीब है कि विश्व के प्राचीन अथवा आधुनिक भाषा-शास्त्रियों में से अधिकांश ने भाषा-विषयक सैद्धांतिक चर्चाएं तो बहुत की हैं, भाषा-विश्लेषण की समर्थ पद्धतियों का भी कइयों ने संकेत या विकास किया है, किंतु ऐसे भाषाशास्त्री बहुत ही कम हैं जिन्होंने किसी भाषा को लेकर उसका सर्वांगीण विश्लेषण किया हो । यदि विश्व के मुख्य भाषाशास्त्रियों जैसे यास्क, पाणिनि, पतंजलि भर्तृहरि, सस्यूर, सपीर, रोमन याकोब्सन, चॉम्स्की आदि की ओर दृष्टि दौड़ाएं तो उपर्युक्त कथन की सत्यता सहज ही प्रमाणित हो जाती है । इनमें यास्क, पतंजलि, भर्तृहरि, सस्यूर, सपीर, रोमन याकोब्सन तथा चॉम्स्की आदि प्रथम वर्ग में ही आते हैं । इन सबमें एक अकेला नाम पाणिनि का ही है, जिन्होंने अत्यंत सशक्त पद्धति से किसी (संस्कृत) भाषा का सर्वांगीण विश्लेषण किया है । ब्लूमफ़ील्ड का ध्यान पाणिनि और उनके कार्य की इस अद्वितीयता की ओर गया था, और इसीलिए उन्होंने (1933) पाणिनि के 'अष्टाध्यायी' को मानव-मेधा का सर्वोच्च स्मारक कहकर उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की । सच पूछा जाए तो ब्लूमफ़ील्ड इन दोनों ही वर्गों से अलग ठहरते हैं । जैसा कि ऊपर उनकी रचनाओं की तालिका से स्पष्ट है ब्लूमफ़ील्ड आधुनिक काल के पहले व्यक्ति हैं जिसने ध्वनि, शब्द और रूप तथा वाक्य तीनों ही स्तरों पर गहराई के साथ सैद्धांतिक चर्चा करते हुए भाषा-विश्लेषण की एक सुव्यवस्थित पद्धति विश्व को दी । यों इसमें संदेह नहीं कि उनकी विश्लेषण-पद्धति काफ़ी समर्थ थी किंतु उसकी अपनी सीमाएं भी थीं जो किसी भी क्षेत्र में पहल करने वाले प्रत्येक व्यक्ति और उसकी पद्धति की होती हैं ।

यों उनके समय में अमरीकी संप्रदाय के सपीर, कोपेन हैगेन संप्रदाय के येल्मस्लव तथा प्राग संप्रदाय के मैथेलियस भी सैद्धांतिक चर्चा कर रहे थे, किंतु कोई भी भाषा को आद्यंत विश्लेषित करने की पद्धति नहीं दे पाया था, हेल्मस्लव ने कुछ दिया भी तो वह इतनी जटिल थी कि विशेष चल नहीं पाई, जबकि ब्लूमफ़ील्ड की इतनी स्पष्ट थी कि बड़ी जल्दी इसका न केवल अमरीका में बल्कि बाहर भी काफ़ी प्रचार-प्रसार हुआ और यही कारण है कि उनकी 'भाषा' को आधुनिक भाषाविज्ञान का बाइबिल (मामबर्ग 1964 : 165) कहा

गया । भारत में आधुनिक भाषाविज्ञान के नाम पर जो काम हुए हैं उनमें अस्सी प्रतिशत से भी अधिक उनके सिद्धांतों को ही लेकर हुए हैं । इधर अवश्य चॉम्स्की के आधार पर कुछ काम हुए हैं और हो रहे हैं, किंतु एक ओर तो उनकी प्रजनक स्वनप्रक्रिया (generative phonology) इतनी अस्वाभाविक है कि सहज स्वनप्रक्रिया (natural phonology) के विकास की आवश्यकता पड़ी है, जैसे चॉम्स्की की स्वनप्रक्रिया असहज या जटिल है, दूसरे वे स्वयं अपने सिद्धांत काफ़ी-कुछ बदलते रहे हैं । 1959 में एक तो 1965 में दूसरा, 1971 में तीसरा और 1980 में चौथा । यह विकास तो अच्छा है किंतु इससे उनकी वास्तविक स्थिति समझने में कठिनाई होती है । इस तरह की कठिनाई ब्लूम-फ़ील्ड में नहीं है । उनके यहां जो है प्राय: एक है, सहज और साफ़ है, निश्चित है । ब्लूमफ़ील्ड ने प्राय: सोचने के बाद कहा तो चॉम्स्की सोचने-समझने की प्रक्रिया में कहते रहे हैं । तो उन्होंने भाषा विश्लेषण की अपने समय की काफ़ी समर्थ पद्धति तो विश्व को दी ही, स्वयं भाषा का बहुत अच्छा विश्लेषण भी किया । मेरा आशय है उनके 'मिनॉमिनी व्याकरण' से । उनका यह व्याकरण पाणिनि के व्याकरण के स्तर का न होकर भी काफ़ी-कुछ उसके आदर्श पर लिखा गया है । कम-से-कम भाषाशास्त्रियों का तो यही मत है । उदाहरण के लिए प्रसिद्ध अमरीकी भाषाशास्त्री हॉकिट[9] ब्लूमफील्ड की इस पुस्तक 'मिनॉमिनी भाषा' (Minomini Language) की भूमिका(पृ० VIII) में लिखते हैं[10] कि 'ब्लूमफील्ड अपनी इस पुस्तक को पूर्णता और यथातथता की दृष्टि से संस्कृत के पाणिनीय व्याकरण-सी बनाना चाहते हैं ।...यह बात वे स्वयं तो नहीं कह सकते थे; किंतु ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा । उनका यह व्याकरण इस बात का स्वयं प्रमाण है ।'

इस तरह उपर्युक्त दोनों वर्गों के भाषाशास्त्रियों से अलग उनके अपने अकेले का एक वर्ग है । उन्होंने अपनी पुस्तक 'भाषा' में भाषा-विश्लेषण का सुव्यवस्थित सिद्धांत प्रथम बार हमारे संमक्ष रखा तथा अपनी मिनॉमिनी भाषा में किसी भाषा के ध्वनि, शब्द और रूप तथा वाक्य तीनों स्तरों पर विश्लेषण करने का सफल प्रयास भी पहली बार किया । इस तरह सैद्धांतिक भाषाविज्ञान तथा अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान दोनों ही में वे आधुनिक काल के प्रथम समर्थ भाषाशास्त्री हैं ।

हॉकिट उनके पट्ट शिष्य हैं, अत: उनके इस दावे में थोड़ी बहुत अतिरंजना हो सकती है किंतु उक्त उदाहरण को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हॉकिट ने जो कहा है, वह बिल्कुल ही निराधार हो ऐसी बात नहीं है । मिनॉ-मिनी भाषा का उक्त विवेचन काफ़ी गंभीर, व्यवस्थित तथा पूर्ण है तथा जब हॉकिट यह भूमिका 1962 में लिख रहे थे, तब तक तो किसी एक मॉडल के

आधार पर किसी भाषा का आधुनिक व्याकरण नहीं ही था, आज तीस वर्ष बाद 1982 में भी स्थिति बहुत बदल नहीं पाई है। आज भी किसी भी भाषा का कोई एक वैसा व्याकरण नहीं है। ऐसा लगता है कि किसी भाषा का ध्वनि से लेकर वाक्य-स्तर तक का व्याकरण ब्लूमफ़ील्ड के विश्लेषण-सिद्धांत पर तो लिखा जा सकता है, किंतु अन्य किसी भी एक मॉडल के आधार पर लिखना सरल नहीं है, शायद इसीलिए किसी भाषा का कोई सर्वांगीण व्याकरण चॉम्स्की के बहुप्रशंसित सिद्धांत के आधार पर भी नहीं लिखा जा सका है।

इस तरह ब्लूमफ़ील्ड का वह व्याकरण प्रशंसित तो है किंतु एक प्रश्न यह अवश्य उठता है कि उसका न तो कोई प्रचार हुआ और न उसके आधार पर व्याकरण लिखे गए—ऐसा क्यों? मेरे विचार में इसके लिए दो कारण हैं। एक तो यह कि मिनॉमिनी भाषा बहुत थोड़े लोगों द्वारा बोली जाती हैं, प्रायः अल्पज्ञात है, अतः महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसीलिए अपना प्रकाशन देखने के लिए उस ग्रंथ को काफ़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। दूसरे, जब 1962 में यह ग्रंथ छपा, उस समय तक रूपांतर प्रजनक व्याकरण के उदय के कारण ब्लूमफ़ील्ड की यह विश्लेषण पद्धति पुरानी पड़ चुकी थी, अतः उसके आधार पर कोई नया काम करने की बहुत सार्थकता नहीं थी। फिर भी यह आश्चर्य का विषय है कि किसी भी भाषा का सर्वांगीण विवेचन भाषाविज्ञान के समर्थ-से-समर्थ मॉडल अभी तक नहीं कर पाये हैं, अपवाद केवल पाणिनीय मॉडल तथा ब्लूमफ़ील्डीय मॉडल हैं।

इस तरह ब्लूमफ़ील्ड भाषाविज्ञान के क्षेत्र में न केवल सैद्धांतिक चिंतक हैं, अपितु व्यावहारिक विश्लेषक भी हैं। उन्होंने दो भाषाओं के व्याकरण लिखे थे। एक तो अमरीका के आदिवासियों की भाषा पूर्वी ओजिब्वा का, जो उनकी मृत्यु के नौ वर्ष बाद (Eastern Ojibwa : Grammar, Texts, Vocabulary नाम से) प्रकाशित हुआ और दूसरा अमरीका के दूसरे आदिवासी मिनॉमिनी लोगों का जो 1962 में (The Menomini Language) नाम से छपा। इन दोनों में एक वैयाकरण के रूप में उनका पूरा व्यक्तित्व दूसरे व्याकरण में ही उभरा है।[11]

ब्लूमफ़ील्ड के सिद्धांतों तथा इन व्याकरणों में प्रयुक्त उनकी पद्धति में एक अंतर देखकर बहुत आश्चर्य होता है। वाक्य-रचना के विश्लेषण के लिए उन्हें निकटस्थ अवयव (I.C.) तथा अंतःकेंद्रिक-बहिष्केंद्रिक रचना की बात की है किंतु अपने इन व्याकरणों में उन्होंने इनका बिल्कुल भी प्रयोग नहीं किया है। इस संबंध में दो बातें कही जा सकती हैं; या तो यह व्याकरण, निकटस्थ अवयव तथा अंतःकेंद्रिक-अकेन्द्रिक के सिद्धांत निकालने के पहले के

लिखे हुए हैं या फिर किसी भाषा के व्याकरण के लिए उनकी उपयोगिता में उन्हें संदेह था।

(9)

कोश

यह कम लोग जानते हैं कि ब्लूमफ़ील्ड एक बहुत ही अच्छे कोशकार भी थे। उन्होंने सबसे अच्छा कोश मिनॉमिनी का बनाया था जो द्विभाषी है—मिनॉमिनी-अंग्रेज़ी (Menomini English Lexicon)। इसमें लगभग ग्यारह हज़ार प्रविष्टियां हैं। द्विभाषी कोश के लिए अपेक्षित सारे वैज्ञानिक तत्त्व इसमें हैं। यह कोश अभी तक अप्रकाशित है। इसी प्रकार एक अपेक्षाकृत छोटा कोश क्री-अंग्रेज़ी (Cree-English) का तथा एक और छोटा कोश फॉक्स-अंग्रेज़ी (Fox-English) का भी उन्होंने बनाया था। पूर्वी ओजिब्वा का भी उनका कोश है जो 1958 में (Eastern Ojibwa : Grammar, Texts, Vocabulary नाम से) प्रकाशित हो चुका है।

(10)

भाषा-शिक्षण

भाषाएं पढ़ने-सीखने में तो उनकी रुचि थी ही, भाषाशिक्षण को वे वैज्ञानिक स्वरूप देने के लिए भाषाविज्ञान की पूरी सहायता लेने के भी पक्षधर थे। आगे चलकर विदेशी भाषाशिक्षण में उनकी रुचि विशेष हो गई, इसका कारण शायद यह था उन्हें स्वयं जर्मन भाषा विदेशी भाषा के रूप में काफ़ी गहराई से पढ़नी पड़ी थी। उन्होंने विदेशी भाषा-शिक्षण से संबद्ध एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी थी—(Outline guide for the practical study of foreign language)। आगे चलकर जर्मन, डच तथा रूसी भाषाओं को विदेशी भाषा के रूप में अंग्रेज़ी-भाषी को पढ़ाने के लिए उन्होंने तीन पुस्तकें भी लिखी थीं, जिनमें कुछ अन्य लोगों से भी उन्होंने सहयोग लिया था।

इस तरह सामान्य भाषाविज्ञान के सिद्धांतों पर तो उन्होंने काम किया ही था अनुप्रयुक्त भाषाविज्ञान के अंतर्गत व्याकरण-लेखन, कोश-निर्माण तथा भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में भी उन्होंने उल्लेखनीय काम किया था।

(11)

ऐतिहासिक भाषाविज्ञान

ब्लूमफ़ील्ड ने मूलतः ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से ही अपने भाषावैज्ञानिक जीवन का प्रारंभ किया था। जैसा कि पीछे संकेत किया गया है उनका

डाक्टरेट का शोध-प्रबंध जर्मनिक द्वितीयक अवश्रुति (Germanic secondary ablaut) पर था जो अपने समय में बहुत प्रशंसित रहा। इस दिशा में उनके कार्य तथा उनका चिंतन बाद में भी चलता रहा तथा उनकी ऐतिहासिक भाषा-विज्ञान में कितनी रुचि थी, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अपनी पुस्तक 'लैंग्विज' के अट्ठाईस अध्यायों में सात-आठ अध्याय ऐतिहासिक भाषाविज्ञान से ही संबद्ध हैं जिनमें मुख्यत: भाषापरिवर्तन वाले अध्याय बहुत ही अच्छे हैं।

(12)

इस तरह भाषिक विश्लेषण के प्राय: सभी आयामों को ब्लूमफ़ील्ड ने लिया तथा सैद्धांतिक और अनुप्रयुक्त दोनों ही क्षेत्रों में उन्होंने महत्त्वपूर्ण काम किया। यों उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह थी कि भाषाविज्ञान को एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में स्थापित करने का श्रेय उन्हें ही है। यही नहीं, उस समय तक किसी ने भाषा को आद्यंत विश्लेषित करने के लिए कोई मॉडल नहीं दिया था। वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने भाषा के अत्यंत महत्त्वपूर्ण तीन स्तरों—ध्वनि, रूप, वाक्य—को विश्लेषित करने के लिए एक मॉडल दिया जिसे आगे चलकर संरचनात्मक मॉडल कहा गया। इन तीनों के विश्लेषण की पूरी प्रक्रिया उन्होंने अपनी पुस्तकों में कहीं नहीं दी है, किंतु उनके संकेत हैं तथा अपनी कक्षाओं में वे इसे विस्तार से बतलाते थे जो आगे चलकर हॉकिट, हैरिस तथा ग्लीसन की पुस्तकों में व्यवस्थित तथा विस्तृत रूप से भाषाविज्ञान-जगत के सामने आये।

ब्लूमफ़ील्ड के सिद्धांत में 'ध्वनि' तथा 'रूपरचना' के स्तर पर भाषा-विश्लेषण का मुख्य आधार 'वितरण' है। 'वितरण' के आधार पर ही उनके सिद्धांत में 'स्वनिम' और 'रूपिम' का निर्धारण किया गया है। हम जानते हैं कि सस्यूर ने भाषा में पाये जाने वाले संबंधों के विन्यासक्रमी तथा सहचार-क्रमी दो प्रकार बतलाये थे। मेरे अपने विचार में ब्लूमफ़ील्ड को वितरण-सिद्धांत की मूल प्रेरणा सस्यूर के सहचारक्रमी संबंध से ही मिली थी जिसे उन्होंने अपनी प्रतिभा के आधार पर एक विश्लेषण-व्यवस्था के रूप में विकसित किया। जहां तक वाक्य के विश्लेषण का प्रश्न है, मुझे लगता है कि वह यूरोप में प्रचलित परंपरागत वाक्य-विश्लेषण के आधार पर विकसित किया गया है।

(13)

ब्लूमफ़ील्ड बनाम सपीर

संरचनावाद के युग में ब्लूमफ़ील्ड के साथ-साथ हम एक और महान्

भाषाविद् का परिचय पाते हैं और वे हैं—सपीर। वस्तुत: ब्लूमफ़ील्ड के भाषिक सिद्धांतों की प्रकृति तथा भाषा के प्रति उनके अभिविन्यास का सही आकलन हम सपीर के साथ तुलना करके ही पा सकते हैं। अगर इन दोनों भाषाविदों में समानताएं ढूंढ़ने का प्रयत्न किया जाए तो वे काफी सतही हैं, जैसे—दोनों का पिछला कार्यक्षेत्र नृविज्ञान (anthropology) था तथा दोनों ने अपने विकास के अंतिम चरण में लैंग्विज नामक पुस्तक लिखी। किंतु यदि हम दोनों भाषाविदों की कार्यप्रकृति को देखें तो पाएंगे कि दोनों में बहुत अंतर है। ब्लूमफ़ील्ड भाषाविज्ञान को वैज्ञानिक बनाने के उद्देश्य से कार्यप्रणाली की अभिधारणाओं (methodological postulates) की ओर प्रवृत्त हुए और इस प्रक्रिया में भाषाविज्ञान को एक स्वायत्त विधा के रूप में प्रतिस्थापित करना चाहा। दूसरी ओर सपीर ने भाषा के प्रति एक खुली दृष्टि अपनाई तथा उसे अन्य उन सभी तत्त्वों जैसे मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि के संयोग में रखा जो भाषा को व्यापकता तो देते हैं किंतु उसे बहुअर्थी (ambiguous) भी बना देता है। सपीर का अध्ययन भाषा के बहुआयामी पक्षों की ओर हमारी कल्पना को खींचता है लेकिन इस कल्पना का कोई तार्किक आधार नहीं है। इसके विपरीत ब्लूमफ़ील्ड भाषा के बहुआयामी पक्ष को वहां तक ही स्वीकार करते हैं जहां तक वह अनुभव के स्तर पर परीक्षणीय हो। यही नहीं, शैली की दृष्टि से भी इन दोनों भाषाविदों में कोई समानता नहीं है। सपीर की शैली में कवियों की सर्जनात्मकता का पुट है जो पठन को रोचक तो बनाता है लेकिन किसी प्रणालीगत उपादान को निर्धारित नहीं करता। उनके अत्यंत सामान्यीकृत कथन प्रकथन को अस्पष्ट बना देते हैं जबकि ब्लूमफ़ील्ड के सामान्यीकृत कथन संक्रियात्मक प्रकथन में भी बदले जा सकते हैं। यही कारण है कि उनके युग की वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार ये कथन सर्वसमावेशी, संक्षिप्त और परीक्षणीय हैं।

(14)

ब्लूमफ़ील्ड और ब्लूमफ़ील्डवादी

यद्यपि संरचनावाद के सूत्र को सस्यूर ने जन्म दिया, किंतु उन सूत्रों को भाषा पर लागू करने और इस प्रकार संक्रियात्मक रूप देने का श्रेय ब्लूमफ़ील्ड ही को जाता है। इसी प्रकार संरचनावाद के दार्शनिक पक्ष को ठोस आधार भी ब्लूमफ़ील्ड ने दिया किंतु उनकी वास्तविक शक्ति का रहस्य सिद्धांत और संक्रिया के संतुलन में है। जिन सिद्धांतों को पहले अन्य संरचनावादियों द्वारा मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, उन्हीं सिद्धांतों को निरूपित करने में ब्लूमफ़ील्ड

की कार्य-प्रणाली की अभिधारणाओं (methodological postulates) ने अपना प्रभाव डाला। इनमें जहां कहीं भी टकराहट आयी, ब्लूमफ़ील्ड ने अपनी स्थिति भी स्पष्ट की। उन्होंने अर्थ के क्षेत्र को सिद्धांत रूप में स्वीकार किया और कार्यप्रणाली की अभिधारणाओं के रूप से अलगाया। इन सब तत्त्वों से मिलकर जिस ब्लूमफ़ील्डवाद का जन्म हुआ, उसके सबसे प्रबल समर्थक और अनुयायी हॉकिट थे।

केवल हॉकिट ही नहीं, ब्लूमफ़ील्ड के अन्य अनुयायी भी उनका दबाव महसूस करते रहे। फिर भी इन अनुयायियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(1) सैद्धांतिक मान्यताओं को आगे बढ़ाने वाले, जैसे—हॉकिट आदि; (2) कार्यप्रणाली की अभिधारणाओं को पैना करने वाले, जैसे—हैरिस तथा ब्लॉक आदि।

(15)

ब्लूमफ़ील्ड द्वारा प्रवर्तित यह अमरीकी संरचनात्मक भाषाविज्ञान अपने समय में भाषाविज्ञान का बड़ा ही प्रभावी और सशक्त संप्रदाय था, किंतु 1960 के बाद, इसकी कई कमियों की ओर हमारा ध्यान जाने लगा, जिनमें मुख्य निम्नांकित हैं: (क) प्रारंभ से ही इस संप्रदाय का प्रयास भाषाविज्ञान को अन्य विज्ञानों से अलग रखकर उसे अपने पैरों पर खड़ा करने का रहा है, मुख्यत: ब्लूमफ़ील्ड ने इस पर बहुत बल दिया, किंतु वास्तविकता यह है कि भाषा का संबंध मनुष्य से है, और इसीलिए मनोविज्ञान, समाजविज्ञान आदि वे विज्ञान जो मनुष्य से बहुत अधिक संबंधित हैं, भाषा से निश्चित रूप से संबद्ध हैं। इस दृष्टि से हॉकिट का नाम उल्लेख्य है, जिन्होंने इस संप्रदाय में रहते हुए भी इस संप्रदाय की परंपरा को तोड़कर मनोविज्ञान आदि से भाषा-विज्ञान का संबंध माना। (ख) इस संप्रदाय ने अपवादों को छोड़कर प्राय: न केवल अर्थ के विश्लेषण से अपने को दूर रखा, अपितु अपने विश्लेषण में अर्थ की सहायता भी भरसक नहीं या बहुत कम ली, किंतु सच पूछा जाये तो न तो भाषा का स्वनिमिक, रूपिमिक तथा वाक्यीय विश्लेषण अर्थ को बीच में लाये बिना सुविधा और पूर्णतापूर्वक किया जा सकता है, और न भाषा के अर्थ-पक्ष के विश्लेषण के बिना भाषा का विश्लेषण पूरा ही माना जा सकता है। (ग) यह संप्रदाय भाषा के विभिन्न स्तरों (जैसे ध्वनि, रूप आदि) के विश्लेषण को दूसरे स्तर के विश्लेषण से अलग रखने के पक्ष में रहा है, किंतु वास्त-विकता यह है कि जैसा कि यूरोपीय संरचनात्मक भाषाविज्ञान तथा रूपांतरक प्रजनक व्याकरण में मिलता है, भाषा के सभी स्तर एक-दूसरे से पूरी तरह संबद्ध हैं। सबका अलग-अलग असंबद्ध विश्लेषण भाषा के समग्र रूप को सामने

नहीं ला सकता। (घ) भाषा के वाक्य प्राय: संरचनात्मक दृष्टि से आपस में संबद्ध होते हैं—एक के आधार पर दूसरा बना होता है। उदाहरण के लिए 'वह रोटी खाता है'—'रोटी खाई जाती है', 'वह गया'—'क्या वह गया?' अथवा 'लड़का रोज व्यायाम करता है'—'लड़का रोज व्यायाम नहीं करता' आदि। ब्लूमफ़ील्डीय विश्लेषण इनको आपस में संबद्ध नहीं कर पाया। इनके परवर्ती संप्रदाय रूपांतरक प्रजनक व्याकरण ने इस कमी को पूरा किया। (ङ) कुछ रचनाएं बहुअर्थक होती हैं। उदाहरणार्थ हमने ऊपर देखा कि 'सुंदर फूल और पत्ती' संदिग्धार्थक रचना है। संरचनात्मक भाषाविज्ञान निकटस्थ अवयव-विश्लेषण द्वारा इस बहुअर्थकता को स्पष्ट कर सकता है। इसके विप-रीत ऐसी बहुत-सी रचनाएं होती हैं, जिनकी बहुअर्थकता को ब्लूमफ़ील्डी भाषा-विज्ञान अपने साधनों से नहीं स्पष्ट कर सकता। उदाहरणार्थ 'यह राम का चित्र है' कई अर्थ हैं: (अ) यह राम का बनाया हुआ चित्र है, (आ) इस चित्र का मालिक राम है, (इ) यह राम का (अर्थात् उसके चेहरे आदि का) चित्र है। रूपांतरक प्रजनक व्याकरण ने इस बहुअर्थता को स्पष्ट करने की पद्धति विकसित की।

यों इस प्रकार की कुछ कमियों के बावजूद ब्लूमफ़ील्डवादी सिद्धांत काफ़ी सशक्त रहे हैं। ब्लूमफ़ील्ड के योगदान तथा उनकी शक्ति इसी बात से स्पष्ट हो जाती है कि आगे का भाषाविज्ञान उनसे टकराये बिना आगे नहीं बढ़ सका। (चॉम्स्की भी ब्लूमफ़ील्ड से बार-बार टकराये)। सैद्धांतिक, अनुप्रयुक्त आदि किसी भी क्षेत्र में ब्लूमफ़ील्ड को नज़रअंदाज़ करके सक्रिय हो पाना संभव नहीं है।

पाद-टिप्पणियां :

1. सर्वांगपूर्ण—ऐसा कथन जो भाषा के सभी संबद्ध तथ्यों की व्याख्या कर सकें।
2. संक्षिप्त—ऐसा कथन जो कम-से-कम नियमों की सहायता से अधिक-से-अधिक तथ्यों को अपने में समाहित कर सके।
3. तर्कसंगत—ऐसा कथन जो तर्क की दृष्टि से अटपटा न हो।
4. The Postulates have been called the charter of contemporary descriptive linguistics. Nothing in them has been truly superceded though much of Bloomfield's other work has been, a fate which he regarded as perfectly natural and indeed inevitable.
5. यहां 'प्रत्यय' का प्रयोग आदि, मध्य तथा अंत तीनों ही स्थानों पर जुड़ने वाले बद्ध रूप के लिए किया जा रहा है। —लेखक

6. 'रूपिम' को 'अर्थयुक्त इकाई' मानें या मात्र 'रूप' मानकर उसका विवेचन करें—इस बात को लेकर अमेरिका में मतभेद रहा है। (पामर, 1972 : 107)।

7. Language पुस्तक में पृ० 138-157, 425-443; language पत्रिका (1936, पृ० 89-95) में Language or Ideas लेख; Meaning लेख Monatshefte fur Dyutschen Unterricht, 1934, पृ० 101-6 में, आदि। अपनी पुस्तक 'लैंग्विज' में वे पृ० 26 पर कहते हैं, 'मनुष्य की भाषा में भिन्न-भिन्न ध्वनियों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। ध्वनि-विशेष के अर्थ-विशेष क साथ समन्वय का अध्ययन ही भाषा का अध्ययन है'।

8. It has become painfully common to say that I or rather a whole group of language students of whom I am one, pay no attention to meaning or neglect it, or even that we undertake to study language without meaning, simply as meaningless sound...It is not just a personal affair that is involved in the statements to which I have referred, but some thing which, if allowed to develop, will injure the progress of our science by setting up a fictitious contrast between students who consider meaning and students who neglect it or ignore it. The latter class, so far as I know, does not exist.

9. उल्लेख्य है ब्लूमफ़ील्ड की यह पुस्तक उनके जीवनकाल में नहीं प्रकाशित हो सकी थी, उनकी मृत्यु के तेरह वर्ष बाद हॉकिट ने इसे संपादित करके 1962 में प्रकाशित किया।

10. It is quite clear that what Bloomfield really wanted to accomplish in his description of the language was something matching in completeness and accuracy Panini's grammar of Sanskrit··· He would never have said this himself··· But it is not improper for it to be said for him. The evidence for the assertion lies before the reader now.

11. इस पुस्तक के कवर पर ब्लर्ब रूप में लिखा है : The last complete work, and in many ways. The chef-d'Oeuvre of one of the greatest of American Linguistics, the Menomini language is the product of half a life time of study in the Alagonquian family of Indian languages, and the distillation of Prof. Bloomfield's long and intimate personal experience with the Menomini tribe. असंभव नहीं कि यह ब्लर्ब हॉकिट ने लिखा हो।

संदर्भ :

Block, B. 1948. "A set of Postulates for Phonemic Analysis". In Language 24 : 3-46.

Bloomfield, L. 1927. "A Set of Postulates for the Science of Language". In Language 2 : 153-64.

— 1933. **Language.** London : George Allen & Unwin Ltd.

— 1939. "Linguistic Aspects of Science". In **International Encyclopedia of Unified Science.** 1 : 4 Chicago.

— 1962. **The Menomini Language.** New Haven : Yale University Press.

Carroll, John B. 1953. **The Study of Language.** Cambridge, Mass.

Chomsky, N. & Morris Halle. 1968. **Sound Pattern of English.** New York : Harper & Row.

Davis, Philips W. 1973. **Modern Theories of Language.** New Jersey.

Gleason, Henry A. 1964. **An Introduction to Descriptive Linguistics.** New York : Holt, Rinehart & Winston.

Harris, Zellig A. 1951. **Methods in Structural Linguistics.** Chicago : University of Chicago Press.

Hockett, Charles F. (ed.). 1962. "Preface", **The Menomini Language.** New Haven : Yale University.

— 1970. A Leonard Bloomfield Anthology, Bloomington.

Joos, Martin A. (ed.) 1957. **Readings in Linguistics,** Washington : American Council of Learned Societies.

Maclay, Howard. 1971. "Overviero", In Steinberg, D. D. & L. A. Jakobovits (eds). **Semantics, Cambridge** : Cambridge University Press.

Malmberg, B. 1964. **New Trends in Linguistics**, Stockholm : The Nature Method Institute.

Mohrmann, Christine etal. 1963 (1961). **Trends in European and American Linguistics, 1930-1960**. Utrecht : Spectrum Publishers.

Palmer, 1972. Grammar, Pelican Books.

Tiwari, B. N. 1978. **आधुनिक भाषाविज्ञान**, दिल्ली : लिपि प्रकाशन ।

5

नोम चॉम्स्की : व्यक्तित्व और कृतित्व

अंजनीकुमार सिन्हा

आज से प्रायः पंद्रह वर्ष पहले प्रसिद्ध अमरीकी प्रकाशक वाइकिंग प्रेस और ब्रिटिश प्रकाशक फ़ानताना ने आधुनिक युग के महान चिंतकों के जीवन और विचार के संबंध में "आधुनिक मनीषी" (Modern Masters) शीर्षक से एक ग्रंथमाला का प्रकाशन प्रारंभ किया। श्रृंखला के प्रधान संपादक प्रसिद्ध ब्रिटिश आलोचक फ्रेंक करमोड के शब्दों में, "आधुनिक मनीषियों से हमारा तात्पर्य उन लोगों से है जो हमारे युग के जीवन और विचारों में परिवर्तन लाये हैं और ला रहे हैं।" इस क्रम में जिन विचारकों पर पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनमें उल्लेखनीय हैं : प्रसिद्ध वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टाइन, राजनीतिक चिंतक कार्ल मार्क्स, लेनिन, महात्मा गांधी और चे गुवेरा, मनोवैज्ञानिक फ्रायड और युंग, दार्शनिक बरट्रेंड रसेल, लुडविग विट्किन्स्टाइन, जाँ पॉल सार्त्र और हर्बर्ट मारक्यूस, उपन्यासकार मार्शल जेम्स ज्वायस, डी॰ एच॰ लॉरेंस और कामू, कवि बिलियम बटलर येट्स, एजरा पाउण्ड और टी॰ एस॰ एलिएट, आलोचक जॉर्ज लुकाच, अर्थशास्त्री जॉन कीन्ज और नृशास्त्री लेवी स्ट्राउस। इस श्रृंखला में दो भाषावैज्ञानिक भी सम्मिलित हैं, फर्दिनन्द द सस्यूर और नोम चॉम्स्की, और यह उचित भी है। यद्यपि बीसवीं सदी में प्रख्यात भाषावैज्ञानिकों की कमी नहीं रही है किंतु भाषाविज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तनों का श्रेय इन्हीं दो विभूतियों को है। जिस प्रकार सस्यूर ने यह प्राक्कल्पना की कि भाषा मानव-मस्तिष्क की उर्वरता का द्योतक है और यह बताती है कि मनुष्य किस प्रकार वस्तुओं और विचारों को व्यवस्थापित और विभाजित करता है, उसी प्रकार चॉम्स्की ने यह प्राक्कल्पना की कि भाषा मानव की सृजनात्मक शक्ति

का सबसे सार्थक प्रमाण है और उसके अध्ययन के द्वारा मस्तिष्क की रहस्यमय प्रक्रिया को समझा जा सकता है। सस्यूर ने यह सिद्ध किया कि भाषा के स्वरूप को समझने के लिए उसके उद्भव और विकास के इतिहास को मथना ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि वर्तमान के धरातल पर स्थिर होकर यह देखना आवश्यक है कि भाषा में विन्यासक्रमात्मक (syntagmatic) और सहचारक्रमात्मक (paradigmatic) संयोजन किस आधार पर और किस रूप में होते हैं। सस्यूर की मान्यताओं ने भाषाविज्ञान की धारा ही बदल दी। इण्डोयूरोपियन ऐतिहासिक भाषाविज्ञान के स्थान पर भाषा के एककालिक (synchronic) अध्ययन की परंपरा चल पड़ी। इस प्रकार भाषाविज्ञान के क्षेत्र में एक नये प्रतिमान की स्थापना हुई। नोम चॉम्स्की ने, जो सस्यूर से पचास साल बाद भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आये,[1] इस स्थापित प्रतिमान को चुनौती दी। उन्होंने यह प्राक्कल्पना की कि एककालिक अध्ययन के लिए भाषा के सतही स्वरूप का अध्ययन पर्याप्त नहीं है, बल्कि गहराई तक जाने की आवश्यकता है। जो ऐसा नहीं करते, वे पेड़ ही गिनते रह जाते हैं, जंगल का स्वरूप नहीं पहचान पाते। चॉम्स्की की इस परिकल्पना ने सस्यूर के प्रतिमान पर आधारित वर्णनात्मक भाषाविज्ञान को झकझोर कर विस्थापित कर दिया और उसके स्थान पर एक नये प्रतिमान की स्थापना कर दी। लेकिन चॉम्स्की ने आम बुद्धिजीवियों के मन को इसलिए आंदोलित नहीं किया है कि उन्होंने वर्णनात्मक भाषाविज्ञान की तुलना में रचनांतरण-प्रजनक (transformational-generative) भाषाविज्ञान को श्रेष्ठ सिद्ध किया है, वरन् इसलिए कि उन्होंने भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, दर्शन और राजनीति जैसी विधाओं की चहारदीवारी को तोड़कर भाषा और मनुष्य के संबंधों की सांगोपांग तस्वीर खींचने की कोशिश की है। इसीलिए जॉन सर्ल (1972) जैसे भाषा दार्शनिक ने चॉम्स्की के सिद्धांतों की अवतारणा को 'क्रांति'[2] की संज्ञा दी है। प्रस्तुत निबंध में यह बताने की चेष्टा की जायगी कि चॉम्स्की की इस क्रांति का स्वरूप क्या है और उसका भाषाविज्ञान तथा अन्य विद्या-विधाओं पर क्या प्रभाव पड़ा है। इसमें वाक्यविन्यास (syntax) और स्वनिम विज्ञान (phonology) के संबंध में उनके सिद्धांतों की चर्चा भी इसी सीमित उद्देश्य से की जायेगी।

चॉम्स्की के पूर्व का भाषाविज्ञान

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, चॉम्स्की के पहले के एककालिक भाषाविज्ञान का प्रतिमान वर्णनात्मक और संरचनात्मक था। भाषावैज्ञानिकों का एकमात्र लक्ष्य था : किसी भी भाषा या उसकी बोली का सांगोपांग वर्णन

प्रस्तुत करना। इसके लिए वे उस भाषा के बोलने वाले किसी व्यक्ति के कथन को अंकित कर संगृहीत सामग्री का विश्लेषण करते थे। समानता और असमानता के आधार पर किये जाने वाले इस विश्लेषण का एकमात्र लक्ष्य था : भाषा के विभिन्न तलों का पता लगाना तथा उनका वर्गीकरण और कोटिकरण करना। यह प्रक्रिया तब तक जारी रहती थी जब तक संगृहीत सामग्री का पूरा लेखा-जोखा नहीं हो जाता था।

भाषा के विभिन्न तत्त्वों को निर्धारित करने के विन्यास-क्रमात्मक और सहचार-क्रमात्मक आधार तो सस्यूर ने दिये लेकिन संगृहीत सामग्रियों को विश्लेषित करने की विधि का परिष्कार किया अमरीकी भाषाशास्त्री बोआस, सपीर, ब्लूमफ़ील्ड, हैरिस और हॉकिट ने। हां, ब्लूमफ़ील्ड (1933) ने एक सैद्धांतिक बात यह भी जोड़ दी कि केवल "अनुभूत व्यवहार ही वैज्ञानिक ढंग से विश्लेषित किये जा सकते हैं।"[3] फलस्वरूप विश्लेषण के लिए कथन को लिखित भाषा से ज्यादा तरजीह दी जाने लगी। इस प्रतिमान के प्रसिद्ध परिष्कर्ता जैलिग हैरिस (1951)[4] के अनुसार, किसी भी भाषा के व्याकरण में निम्नलिखित तत्त्वों का होना आवश्यक है :

(क) उसके स्वनिम (phonemes) और उपस्वनों (allophones) की सूची और उनकी आनुक्रमिक उपस्थिति पर लगे प्रतिबंधों का वर्णन।
(ख) उसके रूपिम (morphemes) और उपरूपों (allomorphs) की सूची और उनकी आनुक्रमिक उपस्थिति पर लगे प्रतिबंधों का वर्णन।
(ग) पदबंधों (phrases) और उनके संयोजनों (combinations) पर लगे प्रतिबंधों की सूची ताकि उस भाषा के वाक्य प्रारूपों (types) की सूची तैयार की जा सके।

खोज प्रक्रिया पर आधारित इस वर्गिक दृष्टिकोण (texonomic approach) के कारण ही हॉकेट ने भाषाविज्ञान को 'वर्गीकरक विज्ञान' की संज्ञा दी।

वर्णनात्मक तथा संरचनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धांतकार विशुद्ध वैज्ञानिक पद्धति के कट्टर हिमायती थे; उन्हें अपनी प्रणाली की परिशुद्धता का बड़ा अभिमान था। इसलिए यह अनिवार्य था कि वे अपनी विश्लेषण-प्रक्रिया को अधिक-से-अधिक वस्तुपरक और सही बनायें। इस क्रम में उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिनमें कुछ उस प्रतिमान की अनिवार्य देन थी जिसके अंतर्गत वे शोध कर रहे थे। उदाहरण के तौर पर हम सन्निहित घटकों के विश्लेषण की समस्या की चर्चा कर सकते हैं। जैसा कि रुलोन वेल्ज (1947) ने कहा है, किसी भी वाक्य के सन्निहित घटकों के विश्लेषण के लिए

एकीकृत और व्यवस्थापित सिद्धांत चाहिए। वेल्ज ने ऐसे सिद्धांत की परि-कल्पना भी की। उस सिद्धांत के अनुसार यदि एक ही अनुक्रम के अनेक अर्थ हैं तो उनकी रचना (construction) भी भिन्न होगी। अगर ऐसा है तो उनका सन्निहित घटक विश्लेषण भी भिन्न होना चाहिए। यदि इस सिद्धांत के अनुसार चला जाये तो यह मानना पड़ेगा कि चूंकि (1 क) में लिखित पद-बंध के दो अर्थ हैं, इसलिए उनके दो सन्निहित घटक-विश्लेषण होने चाहिए।[5] एक अर्थ के अनुसार **'पुराने'** शब्द सिर्फ़ **पत्रिकाओं** के लिए हैं, दूसरे के अनुसार **पत्रिकाओं और पुस्तकों** दोनों के लिए। अतः उनके सन्निहित घटक-विश्लेषण (1ख) और (1ग) में हुए :

1. (क) पुरानी पत्रिकाएं और पुस्तकें
   (ख) (पुरानी पत्रिकाएं] और पुस्तकें
   (ग) पुरानी [पत्रिकाएं और पुस्तकें]
   (घ) पुरानी पत्रिकाएं और पुरानी पुस्तकें

उल्लेखनीय बात यह है कि इस विश्लेषण का अर्थ हुआ, बहुखंड घटकों को सिद्धांततः मानना। इसी प्रकार, यह बताने के लिए कि (2ख) में **कर देना** एक घटक है, असंतत (discontinuous) घटकों को सिद्धांततः मानना पड़ेगा।

2. (क) उसने मेरा काम कर दिया।
   (ख) उसने मेरा काम कर ही दिया।

वेल्ज ने ऐसा विश्लेषण कर तो दिया लेकिन उन्हें यह लगा कि उन्होंने बात को उलझा दिया है और उन्हें प्रतिमान के अनुरूप अधिक व्यवस्थित और नियंत्रणीय विश्लेषण ढूंढ़ने चाहिए। लेकिन यह संभव नहीं था क्योंकि इस प्रतिमान में न तो अध्याहार (deletion) के नियम की व्यवस्था थी जिससे (1ग) को (1घ) से संबंधित किया जा सके और न वाक्यतत्त्वों का संचालन-नियम (movement rule) ही था जिससे (2ख) का उपयुक्त विश्लेषण किया जाए। प्रतिमान के अंतर्गत सिर्फ़ इसी बात की गुंजायश थी कि वाक्य में जो तत्त्व जिस रूप में व्यवस्थापित हैं, सिर्फ़ उन्हीं के आधार पर उनका सन्निहित घटक-विश्लेषण किया जाए।

जिस तरह की कठिनाइयों की चर्चा वेल्ज ने वाक्यों के सन्निहित घटक-विश्लेषण को लेकर की है, उसी तरह की कठिनाइयों की चर्चा हॉकेट (1954) ने रूपिम घटक-विश्लेषण की मद-विन्यास-व्यवस्था (item add arrange-ment process) को लेकर की है। उन्होंने इस समस्या की चर्चा अंग्रेज़ी के **टुक** (took) शब्द के विश्लेषण के संदर्भ में की है जो **टेक** (take) 'लेना' का भूतकालिक रूप है। अगर यह कहा जाए कि **टुक** एक रूपिम है तो फिर

टेक शब्द से और दूसरे आंशिक रूप से समान भूतकालिक शब्द जैसे **बेक्ड** (baked; पकाया) से उसका संबंध स्पष्ट नहीं होता। अगर यह कहा जाए कि **टुक** शब्द उस रूपिम का उपरूप है जो अन्यत्र **टेक** के रूप में आता है और उसमें भूतकालिक प्रत्यय **एड** (-ed) का शून्य उपरूप जोड़ा गया है तो यह बात मनमानी लगती है क्योंकि अंग्रेज़ी में भूतकालिक शून्य उपरूप की कल्पना **पुट** (put), **शट** (shut), **कास्ट** (cast) आदि ऐसी क्रियाओं के संदर्भ में की गयी है जो सदैव अविकृत रहती हैं यानी जिनका पहला रूपिम वही है जो वर्तमान काल में रहता है (जैसे **पुट, शट, कास्ट**) और दूसरा अंश **एड** का शून्य उपरूप है। अगर यह कहा जाए कि **टुक** में दो रूपिम हैं, एक असंतत उपरूप **ट···क** है और दूसरा—**एड** का मध्यप्रत्यय (infix) उपरूप **उ** (u) है तो वह भी ग़लत होगा क्योंकि इस विकल्प को मानने पर **टेक** शब्द की जो आंशिक समानता **बेक** (bake 'पकाना') आदि से है, उसकी अवहेलना हो जाती है। यही दोष उस विशेषण में भी है जो **टुक** को एक संपृक्त (portmenteau) रूपिम मान लेता है यानी जो यह कहता है कि यह एक साथ दो रूपिमों (**टेक** और **-एड**) का प्रतिनिधित्व करता है। पांचवां विकल्प यह है कि **टुक** को **टेक** और आदिष्ट (replacive) उपरूप **ए→उ** के रूप में विश्लेषित किया जाए लेकिन यह मद-विन्यास-व्यवस्था की पद्धति के विरुद्ध होगा क्योंकि इस पद्धति में यह अपरिहार्य है कि रूपिम स्वनिमों से बने होते हैं और **'ए→उ'** को स्वनिम की संज्ञा नहीं दी जा सकती। संक्षेप में, कोई भी विकल्प पूर्ण रूप से संतोषजनक नहीं है।

चॉम्स्की के प्रारंभिक शोधकार्य

इसी सैद्धांतिक ऊहापोहपूर्ण पृष्ठभूमि में नोम चॉम्स्की ने 1947 ई० में पेंसिलवेनिया विश्वविद्यालय, फिलाडेल्फ़िया (सं० रा० अमेरिका) में भाषा-विज्ञान के छात्र के रूप में प्रवेश किया। चॉम्स्की के पिता विलियम चॉम्स्की हिब्रू भाषा के जाने-माने पंडित थे; परंपरागत ढंग से उनके लिखे **मध्यकालीन हिब्रू व्याकरण** की बड़ी प्रतिष्ठा थी। नोम चॉम्स्की ने अपने स्कूली जीवन में ही इस व्याकरण का प्रूफ़ देखा था और इसी बहाने हिब्रू व्याकरण और ऐति-हासिक भाषाविज्ञान की अनौपचारिक शिक्षा पा ली थी। कॉलेज के दिनों में उन्हें हैरिस (1951) की प्रसिद्ध पुस्तक Methods in Structural Linguis-tics (संरचनात्मक भाषाविज्ञान की पद्धतियां) के प्रूफ़ भी देखने का मौका मिला था। उन्हें अरबी भाषा, तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र की भी शिक्षा मिली थी। फिर हैरिस की ओर चॉम्स्की का काफ़ी झुकाव था, ख़ासकर इसलिए कि ज़ाइनोइज़्म (zinoism) और इज़रायल के प्रति दोनों के विचार क्रांतिकारी

और आम यहूदियों के विचारों से भिन्न थे। हैरिस के प्रोत्साहन पर ही चॉम्स्की ने भाषाविज्ञान में विशेषज्ञता प्राप्त करने का संकल्प किया।

हैरिस ने चॉम्स्की को किसी भाषा का संरचनात्मक व्याकरण तैयार करने का परामर्श दिया। चॉम्स्की ने इस काम के लिए हिब्रू को चुना क्योंकि उन्हें इस भाषा की अच्छी जानकारी थी। संरचनात्मक भाषाविज्ञान की प्रचलित प्रणाली के अनुसार उन्हें उस भाषा के किसी जानकार की मदद से भाषा-सामग्री इकट्ठी कर उसका विश्लेषण करना था। चॉम्स्की इसी प्रणाली के अनुसार हिब्रू की स्वन-प्रक्रिया पर काम करने लगे लेकिन उन्हें यह काम बहुत ही "नीरस और असंतोषप्रद" लगा।[6] वे इस प्रचलित प्रणाली को छोड़कर उन नियमों की खोज में लग गये जिनके द्वारा हिब्रू वाक्यों के स्वन-रूपों को उत्पन्न किया जा सके। शुरू में उन्होंने सोचा कि हैरिस द्वारा विकसित प्रणाली में कुछ परिवर्तन करने से बात बन जायेगी लेकिन शोधकार्य के दौरान हुए अनुभवों ने उनके विचारों में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। इस बात को चॉम्स्की के ही एक उदाहरण के द्वारा समझाया जा सकता है। हिब्रू में **म्ल्क** (mlk) 'राजा' मूल से **मल्की** (malki) 'मेरा राजा' और **मल्का** (malka) 'रानी' जैसे शब्द निकले हैं, लेकिन उसी मूल से म्लाखिम (mlaxim) 'राजे' भी निकला है। ऐसा इसलिए हुआ है कि पश्च स्वरात्मक स्थिति (post vocalic position) में होने पर संघर्षीकरण (spirantization) के नियमानुसार **क** (k) का ख (x) हो जाता है। लेकिन इस नियम के अनुसार **माल्खी** (malxey) की जगह **माल्की** (malkey) होना चाहिए था (जैसे मल्का, मल्की), जो नहीं होता। चॉम्स्की ने यह अनुभव किया कि इस विसंगति की व्याख्या स्वनों के वितरण का अध्ययन कर नहीं की जा सकती लेकिन नियमों के पारस्परिक संबंध और क्रम को निश्चित कर की जा सकती है। यदि यह मान लिया जाए कि स्वर लघ्वीकरण (vowel reduction) का नियम संघर्षीकरण के नियम के बाद आता है तो हम पायेंगे कि संघर्षीकरण के नियम के अनुसार **म्ल्क** (mlk) में **यी** (ey) प्रत्यय लगाने पर **मालखी** (malaxey) हो जाता है जो स्वर लघ्वीकरण नियम के अनुसार **माल्खी** (malxey) बन जाता है। यदि इन दो नियमों को पुनरावर्ती भी मान लिया जाए, फिर भी **ख** का **क** नहीं हो सकता क्योंकि स्वर लघ्वीकरण नियम ने संघर्षीकरण के नियम के लगने की शर्तें खत्म कर दी हैं।[7]

चॉम्स्की का यह दृष्टिकोण वर्णनात्मक-संरचनात्मक भाषाविज्ञान के प्रचलित प्रतिमान के विरुद्ध था क्योंकि इसमें विश्लेषण के लिए पद-विन्यास व्यवस्था की जगह पद-प्रक्रम (item and process) व्यवस्था को इस तरह से चुना गया था कि विश्लेषण का आधार भाषा के जानकार द्वारा कथित

सामग्री नहीं, वरन् उसका अंतर्निहित अमूर्त रूप था। यह ठीक है कि आधुनिक हिब्रू की रूपस्वनिम प्रणाली का जो वर्णन चॉम्स्की ने अपने बी० ए० और एम० ए० के शोध-प्रबंध में क्रमिक रूप-स्वानिमिकी नियमों के द्वारा किया है उसे तत्कालीन मानक स्वानिमिकी-विश्लेषण के द्वारा भी किया जा सकता था, लेकिन उस तरीक़े से काम करने पर अधिकांश रूपों को गिनाने की आवश्यकता होती। चॉम्स्की की यह धारणा थी कि जिस तरह का महत्त्वपूर्ण सामान्यीकरण उन्होंने किया था वैसा महज रूपिमों की गणना द्वारा नहीं किया जा सकता था और यह बात सैद्धांतिक महत्त्व की थी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अगर दो व्याकरण एक ही बात कहते हैं तो जो उन्हें ज़्यादा सरल ढंग से कहता है हमें उसे ही स्वीकार करना चाहिए। जैसे, यदि किसी भाषा की शब्द-रचना में रूपिमों का निम्नलिखित संभव क्रम है तो एक तरीक़ा यह है कि उनका वर्णन ज्यों-का-त्यों कर दिया जाए (जैसा कि (3 क) में किया गया है)। दूसरा यह कि उसे सबसे संक्षिप्त संभव तरीक़े से किया जाए (जैसा कि (3 ख) में किया गया है):

3 (क)	क	ख	ग	घ		छ
	क	ख ,	ग		च	छ
	क		ग	घ		छ
	क		ग		च	छ
3 (ख)	क	(ख)	ग	{घ / च}		छ

उन्होंने यह दावा किया कि (3 ख) का वर्णन (3 क) के वर्णन से श्रेष्ठ है क्योंकि उसमें (3 क) की बातें सबसे संक्षिप्त संभव तरीक़े से कही गयी हैं। यही नहीं, इसमें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि इस भाषा में रूपिम **ख** की उपस्थिति वैकल्पिक है और रूपिम घ और **च** पूरक वितरण में आते हैं, यानी जब किसी शब्द में रूपिम **च** रहेगा तो घ नहीं रहेगा। चॉम्स्की के इस दावे ने भाषाविज्ञान के शोधकार्य के महत्त्व को परखने की एक कसौटी प्रस्तुत कर दी और वह थी मूल्यांकन की कसौटी। इसके अनुसार यदि दो शोध-निबंधों में एक ही बात को खोज निकाला जाए, और दोनों के तरीक़े खोज की कसौटी पर समान महत्त्व के सिद्ध होते हों, फिर भी पहले को दूसरे से ज़्यादा महत्त्व का माना जा सकता है, यदि मूल्यांकन की कसौटी पर वह दूसरे से श्रेष्ठ निकले।

खोज-प्रक्रिया के बारे में चॉम्स्की के मन में कई गंभीर शंकाएं थीं। पहली बात तो यह है कि यदि यह प्रक्रिया अपने आप में पर्याप्त है तो बिना कोई मूलभूत वैचारिक परिवर्तन किये ही सिर्फ कार्यविधिक परिष्कार के द्वारा पर्याप्त आधार-सामग्री एकत्र कर किसी भी भाषा का सर्वश्रेष्ठ व्याकरण लिखा जा सकता है, ऐसा व्याकरण जिससे अच्छा कुछ हो ही नहीं सकता। अगर ऐसी बात है तो भाषाविज्ञान का स्वरूप 'अंतस्थ' (terminal) है। लेकिन, जैसाकि हम देख चुके हैं, हिब्रू भाषा के रूपस्वानिमिकी-विश्लेषण के सिलसिले में चॉम्स्की ने अनुभव किया कि खोज-प्रक्रिया के प्रतिमान से बाहर निकले बिना संतोषप्रद विश्लेषण संभव नहीं था। आगमनात्मक प्रणाली पर आधारित-सामग्री की विश्लेषण-प्रक्रिया की ऐसी सीमा उन्हें वाक्यविन्यास के क्षेत्र में भी नज़र आयी। 1951 में जब चॉम्स्की फ़िलाडेल्फ़िया से कैम्ब्रिज (मैसचुसैट्स) चले गये तो उनका संपर्क मैसचुसैट्स इंस्टीट्यूट आव टैक्नोलॉजी के अध्यापक मॉरिस हाले से हुआ। वे भी खोज-प्रक्रिया की सीमाओं से अवगत थे।[8] 1952 में चॉम्स्की ने अंग्रेज़ी भाषा की सहायक क्रियाओं पर काम करना शुरू किया। इस सिलसिले में भी उन्होंने यही अनुभव किया कि इन सहायक क्रियाओं का वितरण सतही तौर पर चाहे जितना भी अव्यवस्थित और विसंगत लगे, कुछ नियमों की सहायता से उनकी व्यवस्था का निरूपण किया जा सकता है। संक्षेप में यों कहें कि वाक्यविन्यास में किये गये शोधकार्य के अनुभव ने भी उन्हें प्रेरित किया कि वे सतही रूपों के वितरण की परंपरागत चिंता छोड़कर अंतर्निहित रूपों से क्रमिक नियमों द्वारा उन्हें व्युत्पन्न करने की चेष्टा करें।

प्रजनक व्याकरण का जन्म

सन् 1953 तक आते-आते चॉम्स्की ने 'खोज-प्रक्रिया' को परिष्कृत करने का अपना विचार पूरी तरह छोड़ दिया, वे प्रजनक व्याकरण के सिद्धांतों और उनके व्यावहारिक पक्ष पर काम करने लगे। उसी समय उन्होंने **द लॉजिकल स्ट्रक्चर आव लिंग्विस्टिक थिअरी** (The Logical Structure of Linguistic Theory) अर्थात् भाषाविज्ञान के सिद्धांत की तार्किक संरचना[9] नामक बृहत् ग्रंथ पर काम करना शुरू किया। इसमें उन्होंने यह बताया कि भाषाशास्त्रीय सिद्धांत को किस प्रकार एक प्रारंभिक समाकृति प्रक्रिया (Schematism) के रूप में विकसित किया जा सकता है। वही समाकृति-प्रक्रिया किसी भी भाषा के संभावित व्याकरण का रूप निर्धारित करेगी और यह बतायेगी कि उनके आधार पर उस भाषा की संरचनाओं को कैसे प्रजनित किया जा सकता है। इस तरह के व्याकरण में भाषाविज्ञान की विभिन्न संकल्पनाएं (जैसे, स्वनिम, रूपिम, पदबंध आदि) समाकृति-प्रक्रिया द्वारा अनुज्ञप्त (permitted) स्थान

पर आयेंगी और यह आवश्यक नहीं होगा कि स्वनिमों से रूपिमों और रूपिमों से शब्दों और पदबंधों की ओर बढ़ा जाए। इसके फलस्वरूप, 'स्तरों के बिलगाव' की बात आप ही खत्म हो जायेगी।[10] चॉम्स्की ने यह भी कहा कि इस समाकृति-प्रक्रिया को आदिम संकल्पनाओं (Primitive notions) की सहायता से समझाया जायेगा।

धीरे-धीरे चॉम्स्की ने यह मानना शुरू किया कि भाषाविज्ञान का पूरे तौर पर आगमनात्मक पद्धति पर निर्भर रहना ठीक नहीं है। उसमें निगमनात्मक पद्धति का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आवश्यक नहीं है कि आधार-सामग्री को समानता और असमानता के आधार पर विश्लेषित कर सामान्यीकरण द्वारा भाषा की व्याकरणिक कोटियों को निर्धारित किया जाए। इसके विपरीत, यह माना जा सकता है कि संज्ञा, क्रिया आदि भाषा की आदिम कोटियां हैं जिनके शृंखलित संगठन से वाक्य बनते हैं। यदि इन कोटियों की जगह पर भाषा विशेष के उन शब्दों को चुन लिया जाए जो इन कोटियों के उदाहरण हैं तो प्रतिस्थापन के नियमानुसार उस भाषा के सही वाक्यों को प्रजनित किया जा सकता है। जैसे, यदि हम (4) में दिये गये नियमों को भाषा की समाकृति-प्रक्रिया मान लें तो (5) में निर्दिष्ट प्रक्रिया द्वारा वाक्य (6) को प्रजनित किया जा सकता है।

4. (क) वाक्य→नामपद+क्रियापद
   (ख) नामपद→(निर्धारक) (विशेषण) संज्ञा
   (ग) क्रियापद→(नामपद)+क्रिया
   (घ) क्रिया→मुख्यक्रिया (+सहायक क्रिया)
   (च) सहायक क्रिया→काल (पक्ष aspect) वृत्ति (mood)
   (छ) संज्ञा→लड़का, कुत्ता आदि
   (ज) विशेषण→छोटा, काला आदि
   (झ) क्रिया→दौड़ाना, खाना आदि
   (ट) सहायक क्रिया→होना, रहना आदि

5. वाक्य
   →नामपद+क्रिया पद (नियम (4 क) के अनुसार)
   →विशेषण+संज्ञा+क्रियापद (नियम (4 ख) के अनुसार)
   →विशेषण+संज्ञा+नामपद+क्रिया (नियम (4 ग) के अनुसार)
   →विशेषण+संज्ञा+विशेषण+संज्ञा+क्रिया (नियम (4 ख) के अनुसार)
   →विशेषण+संज्ञा+विशेषण+संज्ञा+मुख्य क्रिया+सहायक क्रिया

(नियम (4 घ) के अनुसार)
→विशेषण + संज्ञा + विशेषण + संज्ञा + मुख्य क्रिया + काल + पक्ष + वृत्ति (नियम (4 च) के अनुसार)
→छोटा + लड़का + काला + कुत्ता + दौड़ाना + रहना + होना (नियम (4 छ-ट) के अनुसार)[11]

6. छोटा लड़का काला कुत्ता दौड़ा रहा है।[12]

जैसा कि स्पष्ट देखा जा सकता है, (4) में कुछ पुनर्लेखन के नियम दिये गये हैं जिनका पालन कर (6) को प्रजनित किया गया है। सारांश यह कि समाकृति प्रक्रिया द्वारा भाषा के उन व्यापी नियमों को समझा जा सकता है जिनका अनुसरण कर हम वाक्य-संरचना का सही विश्लेषण करते हैं। चॉम्स्की (1957 : 11) के ही शब्दों में :

वाक्य-अन्वेषण का उद्देश्य है ऐसे व्याकरण की रचना करना जिसे विश्लेषित की जाने वाली भाषा के वाक्यों को प्रजनित करने का साधन समझा जा सके।

ध्यान देने की बात यह है कि चॉम्स्की ने यहां 'वाक्य-अन्वेषण' शब्द का प्रयोग किया है, 'भाषा-अन्वेषण' या 'भाषा-विश्लेषण' का नहीं। ऐसा इसलिए नहीं कि वे भाषा के वाक्येतर (non-syntactic) अन्वेषण की अवहेलना करना चाहते हैं, वरन् इसलिए कि वे 'वाक्य-अन्वेषण' को भाषा-अन्वेषण का केंद्रबिंदु मानते हैं यानी यह मानते हैं कि वाक्यों को समझने के क्रम में ही रूपिमों, स्वनिमों और भाषा के अन्य अवयवों को भी समझा जा सकता है।

चॉम्स्की ने एक और क्रांतिकारी स्थापना यह की है कि चूंकि किसी भी भाषा में अनंत वाक्यों की संभावनाएं हैं, भाषावैज्ञानिक के लिए कभी भी पर्याप्त आधार-सामग्री इकट्ठा करना असंभव है, खासकर यदि वह 'पूरे तथ्यों' को इकट्ठा करने का लक्ष्य मानकर चले। लेकिन वाक्य-संरचना के साधन अनंत नहीं हैं; वे हर भाषा में सीमित और निश्चित हैं, भले ही सभी भाषाओं में समान न हों। अतः भाषावैज्ञानिकों को उन साधनों और प्रक्रियाओं को समझने पर जोर देना चाहिए जिनसे वाक्य प्रजनित किये जाते हैं। चॉम्स्की के विचार से भाषा के तथ्यों के विश्लेषण अपने आपमें महत्त्वपूर्ण नहीं हैं, वे वहीं तक महत्त्वपूर्ण हैं जहां तक कि वे हमें वाक्यों की प्रजनन-प्रक्रिया को समझने में सहायता करते हैं। दूसरे शब्दों में भाषावैज्ञानिक का काम तथ्यों का अंबार लगाना नहीं है, वरन् निर्णायक और संगत तथ्यों पर ध्यान देकर नियमों का सही मूल्यांकन करना है।[13] प्रजनक व्याकरण के लिए जिन अनुभवमूलक बाध्यताओं (empirical constraints) की बात चॉम्स्की ने की है, उनके आधार निर्णायक और संगत तथ्य ही हैं।

यह बात ध्यान देने की है कि चॉम्स्की जिन प्रणालीगत सिद्धांतों को परिष्कृत, विस्तृत और शुद्ध करने की चेष्टा कर रहे थे (या अब भी कर रहे हैं), उनमें कोई अनुभवमूलक दावे नहीं किये गये हैं लेकिन उनके सिद्धांत अनुभवमूलक प्रमाण पर ही आधारित हैं। स्वयं चॉम्स्की (1975 : 37) के ही शब्दों में :

भाषिक सिद्धांतों द्वारा नियमित व्याकरण किसी भी वक्ता या श्रोता के अपने भाषा-संबंधी ज्ञान के बारे में एक ऐसी प्राक्कल्पना (hypothesis) प्रस्तुत करता है जिसे अनुभवमूलक प्रमाणों के द्वारा पुष्ट या खंडित किया जा सकता है। ये अनुभवमूलक प्रमाण अंततोगत्वा भाषा के प्रयोग करने वालों के भाषायी सहजज्ञान (अंतःप्रज्ञा) का अन्वेषण कर एकत्र किये जा सकते हैं।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, चॉम्स्की ने वैकल्पिक सिद्धांतों के मूल्यांकन पर बहुत ही जोर दिया है और बार-बार कहा है कि यह मूल्यांकन अनुभवमूलक परिणामों के रूप में ही किया जा सकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि अनुभवमूलक दावे इस प्रकार स्पष्ट रूप से किये जाएं कि उन्हें सच्चा या झूठा सिद्ध किया जा सके।[14] इसीलिए यह भी आवश्यक है कि उनमें 'यथावसर समायोजन' (adhoc adjustment), ढीले-ढाले निरूपण[15] या बेबुनियादी धारणाएं न हों। साथ ही सिद्धांतों को इतने सुनिश्चित रूप से लागू किया जाए कि उनके परिणामों की असंगति सामने आ जाए ताकि उनका त्याग या परिमार्जन किया जा सके। अर्थ में भी चॉम्स्की का प्रतिमान वर्णनात्मक संरचनात्मक प्रतिमान से भिन्न है क्योंकि उनके अनुसार 'भाषाविज्ञान के औजारों की तुलना' 'निरर्थक' है; जो भी वैकल्पिक सिद्धांत आधार-सामग्री का पूरा ब्यौरा दे दें, वही ठीक है।[16]

चॉम्स्की के सिद्धांत की दार्शनिक पृष्ठभूमि

चॉम्स्की के भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों को समझने के लिए उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का विश्लेषण आवश्यक है। जिस प्रकार बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पाश्चात्य भाषाविज्ञान में वर्णनात्मकता और संरचनात्मकता का बोलबाला था, उसी प्रकार दर्शन के क्षेत्र में अनुभववाद (empiricism) और मनोविज्ञान में व्यवहारवाद (behaviourism) की चलती थी और यह स्वाभाविक भी था। सच पूछिये तो ब्लूमफ़ील्ड द्वारा परिष्कृत वर्णनात्मकतावाद भाषाविज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवाद का ही दूसरा रूप था। इस बात को उनके 'अर्थ' संबंधी विचार द्वारा चरितार्थ किया जा सकता है :

जो भाषावैज्ञानिक नहीं हैं वे प्रायः यह भूल जाते हैं कि

> वक्ता सिर्फ़ आवाज निकालता है। वे यह सोचते हैं कि उसके मन में कुछ सुस्पष्ट विचार होते हैं। यह विस्तार से समझाना भाषा-वैज्ञानिक का काम है कि वक्ता के कुछ अपने विचार नहीं होते, उसके लिए आवाज निकालना ही काफ़ी है क्योंकि वक्ता की ध्वनि ही श्रोता की तंत्रिका प्रणाली (nervous system) पर प्रभाव उत्पन्न करती है। (ब्लूमफ़ील्ड 1936 : 93)

इस तरह के विचार स्पष्ट रूप से तर्कबुद्धिवाद (rationalism) और मानसिकतावाद (mentalism) के विरुद्ध थे। आश्चर्य नहीं कि ब्लूमफ़ील्ड के मरने के बाद बर्नार्ड ब्लॉक (1949) ने कहा :

> भाषाविज्ञान को विज्ञान बनाने के अभियान में ब्लूमफ़ील्ड को जिस मुख्य शत्रु का सामना करना पड़ा वह था मानसिकतावाद (mentalism) यानी सभी संभव समस्याओं की बनी-बनायी व्याख्या के लिए बुद्धि (mind) और इच्छाशक्ति (will) की दुहाई देने की प्रवृत्ति। अधिकांश लोग इस प्रवृत्ति को 'स्पष्ट सामान्य ज्ञान' मानते हैं लेकिन ब्लूमफ़ील्ड के दृष्टिकोण से···यह मात्र अंधविश्वास है जो बहुत ही निरर्थक है और वैज्ञानिक पद्धति के रूप में अपनाये जाने पर विनाशक भी है। ब्लूमफ़ील्ड ने दुनिया के लिए आशा की झलक इसके विरोधी दृष्टिकोण यानी प्रत्यक्ष-वाद (positivism), नियतत्त्ववाद (determinisn) और यांत्रिकवाद (mechanism) में देखी। उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि मानव-व्यवहार के पूर्णतः वस्तुपरक अध्ययन करने से ही—जिसमें भाषा का भी अध्ययन शामिल है—मनुष्य का एक-दूसरे से मिलकर रहना संभव हो सकेगा।

यहां यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि व्यवहारवाद के सिद्धांतों की रूपरेखा सर्वप्रथम मनोवैज्ञानिक जॉन बी० वाटसन ने 1913 में प्रस्तुत की जिसे बाद में वाटसन (1924) में विस्तृत रूप से समझाया गया। वाटसन ने भाषा के संबंध में ज़्यादा नहीं लिखा लेकिन उनके अनुयायी ए० पी० वेस (Weiss 1928) ने उस पक्ष पर व्यवहारवादी दृष्टिकोण के आधार पर विस्तार से विचार किया। ब्लूमफ़ील्ड के आरंभिक निबंध मानसिकतावादी डब्ल्यू० वुन्त (W. Wundt) के सिद्धांतों से प्रभावित हैं, लेकिन 1926 तक आते-आते वे पूरे तौर पर व्यवहारवादी हो गये और अंत तक बने रहे। उनके अनुयायियों ने भाषाविज्ञान के क्षेत्र में उनके व्यवहारवादी सिद्धांतों का सुनिश्चित रूप से प्रतिपादन किया। उन्हें इस बात से भी बल मिला कि इस अवधि के अधिकांश प्रख्यात अमेरिकी भाषादार्शनिक (जैसे नेलसन गुडमन, हिलरी पटनम, डब्ल्यू० वी० क्वाइन) भी व्यवहारवादी थे।[17] पटनम तो पेनसिल्वेनिया विश्वविद्यालय में चॉम्स्की के अध्यापक भी थे। जैसा कि चॉम्स्की (1975 : 33) ने लिखा है, पटनम का दृष्टिकोण आम तौर से व्यवहारवादी था पर वे आगमनात्मक पद्धति की त्रुटियों से अवगत थे।[18] हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर क्वाइन ने विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के बीच प्रचलित तार्किक अनुभववाद (logical empiricism) और सामान्य भाषादर्शन (ordinary language philosophy) के विरुद्ध कई शंकाएं उठायी थीं, फिर भी वे तर्कबुद्धिवाद और मानसिकता-वाद के विरुद्ध थे।[19] उनका विचार था कि 'अर्थ' के प्रसंग में दार्शनिकों को भाषावैज्ञानिकों की विश्लेषण-प्रणाली का अनुसरण करना चाहिए, जिसका अर्थ था ब्लूमफ़ील्ड की यांत्रिकवादी-व्यवहारवादी प्रणाली का अनुसरण करना।

चॉम्स्की जिस समय कैम्ब्रिज (मैसचुसेट्स) गये, वहां के वातावरण में अनुभववाद और व्यवहारवाद की धूम मची थी। उनके जाने के कुछ ही वर्ष पहले हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफ़ेसर बी० एफ़० स्किनर ने "ज्ञानार्जन के व्यवहारवादी सिद्धांत" पर व्याख्यान दिये थे जिसमें उन्होंने वाटसन के उद्दीपन अनुक्रिया प्रणाली (stimulus response mechanism) के सरल सिद्धांत के स्थान पर उद्दीपन नियंत्रण (stimulus control) के संश्लिष्ट सिद्धांत का निरूपण किया था। इसकी मुख्य बात यह थी कि उद्दीपन, पुनर्बलन (reinforcement) और वंचन (deprivation) की धारणाओं पर आधारित उद्दीपन नियंत्रण द्वारा किसी भी व्यवहार का—शाब्दिक व्यवहार का भी—पूरा विश्लेषण किया जा सकता है। सन् 1957 में ये व्याख्यान **वर्बल बिहैवियर** (Verbal Behaviour शाब्दिक व्यवहार) के रूप में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। चॉम्स्की (1959) ने इसकी विस्तार से समीक्षा कर बताया कि जहां तक शाब्दिक व्यवहार का प्रश्न है, यदि हम स्किनर की धारणाओं को अभिधार्थ में लें तो वे उनके किसी पक्ष को विश्लेषित नहीं करतीं; यदि हम उन्हें लक्षणार्थ में लें तो वे ऐसी कोई बात नहीं कहतीं जो परंपरागत विश्लेषण-पद्धति के अंतर्गत उसी तरह से न कही जा सके।[20] चॉम्स्की ने कहा कि यह दावा करना ग़लत है कि छोटे बच्चे सिर्फ़ वयस्कों की 'सतर्क देखरेख' के कारण ही भाषा सीखते हैं और वयस्क 'सतर्क विभेदक पुनर्बलन' (careful differential reinforcement) द्वारा उनके शब्दभंडार को निर्मित करते हैं। मसलन, यह देखा जाता है कि किसी भी खास भाषाभाषी क्षेत्र में नवागंतुक भिन्न भाषाभाषी के बच्चे खेल ही खेल में पड़ोसी बच्चों से नयी भाषा सीख लेते हैं जो उनके माता-पिता कोशिश करके भी उतनी तेज़ी से नहीं सीख पाते। ये बच्चे यों ही भाषा सीख लेते हैं; सावधानीपूर्वक पुनर्बलन करनेवाली परिस्थिति

की प्रतीक्षा में बैठे नहीं रहते । दूसरे शब्दों में, स्किनर के इस सिद्धांत का कोई अनुभववादी आधार नहीं है कि भाषा सीखने के लिए विभेदक पुनर्बलन पर आधारित शाब्दिक व्यवहार का सुचिंतित सुगठन निश्चित रूप से अपेक्षित है । ध्यान देने की बात है कि चॉम्स्की पुनर्बलन को बिल्कुल ही महत्त्वहीन नहीं मानते; वे सिर्फ़ स्किनर के इस दावे का विरोध करते हैं कि यही भाषा सीखने की एकमात्र अपेक्षित परिस्थिति है । जैसा कि चॉम्स्की (1959) ने कहा है, आकस्मिक अवलोकन, स्वाभाविक जिज्ञासा और अनुकरण की प्रवृत्ति उससे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

जो बात चॉम्स्की को स्किनर जैसे व्यवहारवादियों से बिल्कुल अलग कर देती है वह है उनकी यह प्राक्कल्पना कि मनुष्य में भाषा सीखने की अंतर्जात (innate) शक्ति है जिसके कारण वह भाषा का सृजनात्मक प्रयोग करती है । इसी कारण बच्चे इतने सहज ढंग से तेज़ी से किसी भाषा को सीख लेते हैं । यही शक्ति मनुष्य को अन्य जीवों से अलग कर देती है ।[21] चॉम्स्की यह नहीं मानते कि भाषायी व्यवहार आदत डालने की बात है । उनके मतानुसार भाषायी व्यवहार की मुख्य विशेषताएं हैं : नवप्रवर्तन (innovation), निकर्षण/अमूर्तन (abstraction) और सूक्ष्मता (delicacy) के बल पर नये वाक्यों और प्रतिरूपों (patterns) का निर्माण । सिर्फ़ साहचर्य, पुनर्बलन और सामान्यीकरण पर आधारित व्यवहारवाद भाषा-प्रयोग के इस सृजनात्मक पक्ष पर प्रकाश नहीं डाल सकता । अगर नयी अभिव्यक्तियों का वक्ता और श्रोता के पुराने अनुभवों से साम्य है तो सिर्फ़ इस अर्थ में कि उनके रूप और अर्थ का निर्णय एक से ही अमूर्त अंतर्निहित (abstract underlying) नियमों से होते हैं । इस बात को चॉम्स्की (1973b : 325-27) ने स्किनर (1971) का खंडन करते हुए कुछ विस्तार से बताया है । स्किनर ने यह दावा किया कि अगर कोई व्यक्ति यह कहता है कि उसने फ्रेंच भाषा सीखी है तो इसका यह अर्थ है कि उसने फ्रेंच भाषा का ज्ञानकोश (reportore) जमा कर लिया है । लेकिन, जैसाकि चॉम्स्की ने कहा है, ऐसा नहीं होता कि वह व्यक्ति सिर्फ़ उन्हीं वाक्यों को दुहराता रहता है जो उसने सीखे हैं; वह अपनी कल्पना से, आवश्यकतानुसार, नये वाक्य भी बना लेता है । क्या ये नये वाक्य भी उसके फ्रेंच के ज्ञानकोश के अंग हैं ? अगर नहीं, तो ये वाक्य आये कहां से ? यदि हां, तो यह 'कोश' स्किनर के व्यवहारवादी अर्थ में नहीं वरन् उन अमूर्त सिद्धांतों के रूप में है जिनके द्वारा संगठित रचना (organism) की अभिधारित (postulated) आंतरिक स्थितियों का वर्णन किया जा सकता है ।

जिस समय चॉम्स्की कैम्ब्रिज (मैसचुसेट्स) गये थे, जॉर्ज मिलर जैसे प्रसिद्ध मनोभाषावैज्ञानिक और एरिक लेनबर्ग जैसे जैवभाषावैज्ञानिक स्किनर

के व्यवहारवाद से काफ़ी प्रभावित थे, लेकिन चॉम्स्की द्वारा उठायी गयी आपत्तियों ने उन्हें शंकालु बना दिया । इतना ही नहीं, वे चॉम्स्की की वैकल्पिक प्राक्कलना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहे । 1963 में मिलर ने चॉम्स्की के साथ मिलकर एक निबंध लिखा जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में हुए ज्ञानार्जन और भाषा सीखने के स्वाभाविक तरीक़े में कोई आधारभूत निरंतरता नहीं है । 1964 में लेनबर्ग ने यह प्राक्कल्पना रखी कि डेढ़ साल की उम्र के होते-होते बच्चे के भाषा सीखने की गति में जो आश्चर्यजनक परिवर्तन होता है वह उसके विकास—परिपक्वन प्रक्रिया (maturation process)—के कारण है, न कि उद्दीपन की सुलभता पर आधारित उसकी बाहरी दुनिया में हुए परिवर्तनों के कारण । 1965 में हार्वर्ड विश्वविद्यालय में "बच्चों में भाषा-विकास" पर एक सम्मेलन हुआ जिसमें मिलर और लेनबर्ग के अतिरिक्त डेविड मैकनील, डैन स्लोबिन, जेरी ए० फ़ोडर जैसे मनोभाषावैज्ञानिकों ने भाषार्जन के विकासात्मक सिद्धांत को विकसित किया[22] जो अभी मनोभाषावैज्ञानिकों के बीच प्रचलित सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है ।[23]

परंपरागत ढंग से ऐसा सोचा जाता है कि भाषाविज्ञान भाषा का अध्ययन करता है और मनोविज्ञान (अन्य बातों के अतिरिक्त) भाषा सीखने और उसके प्रयोग की प्रक्रिया का । इन दोनों के बीच के संबंध को अंतर्शास्त्रीय (interdisciplinary) माना जाता है । किंतु चॉम्स्की ऐसा नहीं मानते । वे भाषाविज्ञान को मनोविज्ञान का अंग मानते हैं, विशेषकर संज्ञानात्मक (cognitive) मनोविज्ञान का अंग । उनका कहना है कि कोई भी विद्याविधा ज्ञानार्जन या ज्ञान के प्रयोग का उपयोगी ढंग से अध्ययन नहीं कर सकता यदि वह ज्ञान की प्रकृति को समझने की चेष्टा न करे—अर्थात् यदि मनोविज्ञान भाषा की प्रकृति को समझने से कतराता है तो वह भाषार्जन और भाषा के प्रयोग को भी ठीक से नहीं समझ सकता । संक्षेप में यों कहें कि हमें भाषा के सही मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए उसकी प्रकृति को भी समझना पड़ेगा । हमें जानना होगा कि भाषा की प्रणाली क्या है । तभी हम समझ पायेंगे कि शिक्षार्थी ने उस प्रणाली को किस हद तक अपना लिया है । एक बात और है । यदि हम मानव मस्तिष्क की प्रकृति को समझना चाहते हैं तो हमें यह प्रश्न उठाना चाहिये कि मनुष्य ने किस क्षेत्र में सीमित आधार-सामग्री के बल पर प्रायः एकरूपता से संश्लिष्ट मानसिक संरचना का विकास किया है । जैसाकि चॉम्स्की (1978 : 75-76) ने कहा है :

> …ऐसा स्पष्ट रूप से भाषा के क्षेत्र में हुआ है । यह तर्क दिया जा सकता है कि भाषा के अध्ययन के संबंध में मुख्य बौद्धिक दिलचस्पी इस बात में है कि यह एक ऐसा संश्लिष्ट क्षेत्र है जो

> विशेष रूप से अध्ययन द्वारा परीक्षणीय है। यह एक विशिष्ट मानवीय गुण है और मानव-जीवन के हर पहलू से अभिन्न गुण से जुड़ा है।

इसी आधार पर चॉम्स्की ने यह भी तर्क दिया है कि भाषा के सर्वव्यापक (universal) पक्षों का अध्ययन हमें मानव-मस्तिष्क को समझने में सहायता देगा।[24] उनका विचार है कि भाषा के मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दिशा में जो भी प्रगति होगी, वह अन्य संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के अध्ययन में सहायक होगी। चॉम्स्की के इस दावे का समर्थन दृष्टि-प्रत्यक्षण (visual perception) के क्षेत्र में हाल ही में हुई प्रगति का हवाला देकर किया जा सकता है। जिस प्रकार भाषा के सही रूप से अध्ययन के लिए चॉम्स्की ने भाषा-क्षमता (competence) और भाषा-व्यवहार(performance) का भेद माना है, उसी प्रकार आर० एल० ग्रेगरी (1968) ने दृष्टि (vision) के अध्ययन के लिए दृष्टि-क्षमता और दृष्टि-व्यवहार में अंतर बताया है जिसके फलस्वरूप कई महत्त्वपूर्ण सामान्यीकरण किये जा सके हैं।[25]

इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर चॉम्स्की ने व्याकरण-निर्माण के तीन महत्त्वपूर्ण लक्ष्य निर्धारित किये हैं :

(क) उस आंत:प्रज्ञ (intuitive) और अचेतन ज्ञान का पता लगाना जिसके कारण कोई भाषाभाषी अपनी मातृभाषा का शुद्ध प्रयोग करता है,

(ख) एक ऐसे व्याख्यात्मक सिद्धांत का प्रतिपादन करना जो उस ज्ञान के विकास की प्रक्रिया को समझा सके, और

(ग) भाषा के उन सामान्य सिद्धांतों को समझना जो मनुष्य के भाषार्जन सबंधी जैविक गुणधर्मों (biological properties) पर प्रकाश डाल सकें।

चॉम्स्की का विचार है कि भाषा की प्रकृति को ठीक से समझने के लिए भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मूलभूत आदर्शीकरण (radical idealism) की पद्धति अपनानी होगी और एक अमूर्त व्यवस्था बनाकर उसके विशिष्ट गुणधर्मों को समझना होगा। तभी हम प्रेक्षित संवृत्ति (observed phenoma) को अभिधारित व्यवस्था और उसके तत्त्वों की अन्योन्य क्रिया के रूप में समझ सकेंगे। भौतिक वैज्ञानिक स्टिफ़न वाइनबर्ग ने इस पद्धति को "गैलिलियो की शैली" कहा है[26] और इस बात पर जोर दिया है कि यह भौतिक विज्ञान की शोध-क्रिया की मानी हुई पद्धति है। कोई कारण नहीं कि जिस पद्धति को अपनाकर भौतिक विज्ञान ने अभूतपूर्व उन्नति की है, उसे समाजशास्त्री और भाषावैज्ञानिक नहीं अपनायें। आखिर कार्ल मार्क्स के राजनैतिक अर्थशास्त्र की

धारणाएं अमूर्तता पर ही तो आधारित हैं जिसमें "व्यक्तियों की चर्चा उसी हद तक की गयी है जिस हद तक वे आर्थिक कोटियों, विशिष्ट वर्ग-संबंधों और वर्ग हितों के मूर्तमान रूप हैं।"[27] ऐसे ही दृष्टांतों को लेकर चॉम्स्की ने भाषा के अध्ययन के लिए व्यापक अमूर्तता को आधार बनाने का आग्रह किया है। उनका कहना है कि विवाद अमूर्तता की धारणा को नहीं, वरन् उसके स्वरूप को लेकर हो सकता है।

अमूर्त स्तर पर सोचने पर हर भाषा के लिए एक ऐसे आदर्श समरूप भाषाभाषी समुदाय (homogenious speech community) की कल्पना की जा सकती है जिसमें शैली या बोली (dialect) का अंतर न हो। ऐसा भी माना जा सकता है कि उस भाषाभाषी समुदाय के हर सदस्य को भाषा के आदर्श रूप का अंत:ज्ञान है। चॉम्स्की उस आदर्श वक्ता या श्रोता के भाषा-ज्ञान के प्रतिवेदन को उस भाषा का व्याकरण कहते हैं। यह व्याकरण उस भाषा के हर वाक्य के गुणधर्म को, (जिसके अंतर्गत उसका स्वनिक रूप, अर्थ और कुछ अन्य तत्त्व भी सम्मिलित हैं) बताता है। यह व्याकरण जिन वाक्यों को प्रजनित करता है, उनका संरचनात्मक वर्णन देता है और यह भी बताता है कि वे किन मूल वाक्यों से प्रजनित हुए हैं। चॉम्स्की के विचार के अनुसार व्याकरण के दो पक्ष हैं : सबल और निर्बल। सबल पक्ष वाक्य का संरचनात्मक वर्णन देता है और निर्बल पक्ष वास्तविक वाक्यों को प्रजनित करता है। उनकी समझ से वही व्याकरण यथार्थ में 'प्रजनक' है जो इस बात को पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दे कि जिस भाषा का वह व्याकरण है उसके वाक्य कैसे प्रजनित होते हैं और उनकी प्रकृति क्या है।[28]

इस प्रसंग में चॉम्स्की ने यह भी कहा है कि अमूर्तता के स्तर पर जिस व्याकरण को वह मस्तिष्क में अभिधारित संरचना मानते हैं, वह भाषावैज्ञानिक द्वारा प्रस्तुत व्याकरण से भिन्न है। भाषावैज्ञानिक का व्याकरण स्पष्ट रूप से उद्घोषित एक ऐसा सिद्धांत है जो आदर्श वक्ता-श्रोता के मानसिक व्याकरण के नियमों और सिद्धांतों को ठीक-ठीक व्यक्त करने का प्रयास मात्र है; वह एक वैज्ञानिक सिद्धांत है। वह उसी हद तक ठीक है जिस हद तक वह आंतरिक रूप से निरूपित (internally represented) व्याकरण के समान है। व्याकरण दो प्रकार के हैं : (क) आदर्श समरूप भाषाभाषी का आभ्यंतरस्थ (internalised) व्याकरण और (ख) भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों पर निर्मित व्याकरण। पहला आभ्यंतरस्थ और अमूर्त है, दूसरा एक यथार्थ कृति है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि सभी व्याकरण दूसरी कोटि के हैं तो यह कैसे निश्चित किया जा सकता है कि पहली कोटि के व्याकरण से उनका कितना साम्य है। इसके उत्तर में चॉम्स्की ने कहा है कि चूंकि पहली कोटि का व्याकरण

आदर्श भाषाभाषी के आभ्यंतरस्थ है, अतः जो व्याकरण किसी आदर्श भाषाभाषी के इस आंतःप्रज्ञ भाषाज्ञान का वर्णन करने में मूल्यांकन प्रणाली की दृष्टि से जितना खरा उतरेगा, वह उतना ही श्रेष्ठ होगा। लेकिन यह बात इतने से ही नहीं सुलझती। कई भाषावैज्ञानिकों ने यह आपत्ति की है कि आदर्श भाषाभाषी की चॉम्स्की की बात कल्पना मात्र है, यथार्थ में यह भाषावैज्ञानिक का मानसिक आद्य-प्ररूप (proto type) है जिसे ढूंढ़ना प्रायः असंभव है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि प्रसिद्ध समाजभाषा वैज्ञानिक विलियम लबोव (Labov 1972) ने बताया है, तथाकथित अंतःप्रज्ञा पर आधारित चॉम्स्की के अनुयायियों द्वारा लिखित सभी व्याकरण संबंधित भाषा के स्वरूप का सही चित्रण नहीं करते हैं।[29]

दूसरा प्रश्न आभ्यंतरस्थ व्याकरण के संबंध में है। चॉम्स्की ने यह कभी नहीं कहा है कि हर भाषाभाषी के मस्तिष्क में उस भाषा का आभ्यंतरस्थ व्याकरण है।[30] कहते हैं कि मानव-मस्तिष्क में भाषा सीखने की अंतर्जात युक्ति (innate mechanism) है जिसे "सर्वव्यापक व्याकरण" (universal grammar) की संज्ञा दी जा सकती है।[31] यह व्याकरण उन सिद्धांतों, शर्तों और नियमों की प्रणाली है "जो आकस्मिक रूप से नहीं वरन् जैविक आवश्यकता-वश···सभी मानव-भाषाओं के तत्त्व या गुणधर्म हैं" (चॉम्स्की 1975b : 29)। इस अर्थ में 'सर्वव्यापक व्याकरण' को "मानव-भाषा का सार (essence)" कहा जा सकता है। सभी मानव-भाषाएं सर्वव्यापक व्याकरण के अनुरूप हैं, यद्यपि हरएक में अनेक आकस्मिक गुणधर्म भी हैं। अगर भाषाओं में भिन्नता है तो इन्हीं आकस्मिक गुणधर्मों को लेकर। दूसरे शब्द में, सर्वव्यापक व्याकरण के नियम और शर्तें भाषाओं की संभावित विविधता को नियंत्रित करती हैं। इस व्याकरण की इसी विशिष्टता के कारण मनुष्य किसी भी स्वाभाविक भाषा को आसानी से सीखने में सक्षम है लेकिन कृत्रिम भाषा (जैसे एसपरंतो) को उतनी आसानी से सीखने में सक्षम नहीं। अगर वह कृत्रिम भाषा को सीखता है तो अंतर्जात भाषार्जन गुण के कारण नहीं वरन् किसी और संज्ञानात्मक क्षमता के कारण। जैसा कि चॉम्स्की (1975b : 3-35) ने बताया है, सर्वव्यापक व्याकरण के तत्त्व संश्लिष्ट भी हो सकते हैं, फिर भी वे भाषा-विशिष्ट सरल नियमों से अधिक सुलभ और शक्तिशाली हैं। यह देखा गया है कि संरचना-आश्रित नियम संरचना-स्वतंत्र नियम से अधिक व्यापक हैं, यद्यपि वे उनसे ज्यादा संश्लिष्ट हैं। चॉम्स्की के मतानुसार, ऐसा इसलिए होता है कि सरचना-आश्रय (structural dependence) के सिद्धांत को अलग से सीखना नहीं पड़ता, यह भाषार्जन की आवश्यक शर्त है और अंतर्जात है।

चॉम्स्की के 'सहज प्रत्ययवाद' (innatism) और 'सर्वव्यापक व्याकरण' संबंधी विचारों ने पाश्चात्य जगत, विशेषकर अमरीकी और ब्रिटिश दार्शनिकों

के बीच में तर्कबुद्धिवाद और अनुभववाद के विवाद को फिर से जीवित कर दिया है। स्मरणीय है कि सत्रहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्ते ने सहज प्रत्ययवाद का सिद्धांत प्रतिपादित करते हुए कहा था कि हर मनुष्य के मस्तिष्क में कुछ 'विचार' (जिसे वे प्रतिज्ञप्ति (propositions) और उनके अर्थनिरूपण के सिद्धांत कहते थे) अंतःजात होते हैं जिनके कारण उसे बाहरी दुनिया का प्रत्यक्षज्ञान (perc ption) और बोध होता है। देकार्ते के इस सिद्धांत को दर्शन के क्षेत्र में लाइबनित्स ने और भाषा के क्षेत्र में 'पोर्ट रोएल' (Port Royal) वैयाकरणों ने पल्लवित किया लेकिन बाद में लॉक, बर्कले और ह्यूम जैसे अनुभववादियों का बोलबाला हो गया। उनके अनुसार, मानव-मस्तिष्क में कुछ भी अंतर्जात नहीं होता; नवजात शिशु का दिमाग कोरे कागज-सा होता है जिसपर कुछ अंकित नहीं होता। बाहरी दुनिया का प्रत्यक्षज्ञान सिर्फ़ इंद्रियों पर हुई निष्क्रिय निबंधन (passive registration) की छाप के रूप में होता है। विज्ञान और वैज्ञानिक पद्धति के विकास और प्रभाव ने अनुभववाद को और शक्तिशाली बना दिया। जैसा कि हम बता चुके हैं, बीसवीं सदी में अनुभववाद ने व्यवहारवाद के रूप में जोर पकड़ा। चॉम्स्की ने जिस रूप में व्यवहारवाद की आलोचना की और रचनांतरण प्रजनक व्याकरण के दार्शनिक आधार की व्याख्या की, उससे अनुभववादी-व्यवहारवादी दार्शनिक बोखला गये। सिडनी हुक (1969 : 167) ने तो यहां तक कह दिया कि चॉम्स्की अनुभववाद की आड़ में प्रकृतवाद (naturalism) का विरोध कर रहे हैं और 'प्रतिक्रांतिकारी' (counter-revolutionary) हैं।[32] नेलसन गुडमन ने उसे 'निरी अटकलबाजी' 'अविश्वसनीय और अपरीक्षणीय' कहा।[33] पटनम ने कहा कि इसमें शक नहीं कि मानव-मस्तिष्क में 'ज्ञानार्जन के बौद्धिक यंत्र' हैं लेकिन उसे अंतर्जात ज्ञान की संज्ञा देना ग़लत होगा। प्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक स्टुअर्ट हैम्पशायर ने कहा कि मनुष्य के मस्तिष्क में किसी सीखने की पूर्ववृत्ति (predisposition) है, लेकिन यह प्रतिज्ञप्त ज्ञान या किसी खास तरह के विचार के रूप में नहीं है और पूर्ववृत्ति या प्रवृत्ति का होना अनुभववाद के विरुद्ध नहीं है।[34]

अनुभववादियों से चॉम्स्की का जो विवाद 1966 में बॉस्टन में 'सहज प्रत्ययवाद' पर हुई विचारगोष्ठी में शुरू हुआ वह अभी भी जारी है। इसी बीच चॉम्स्की ने 1969 में ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में भाषादर्शन पर जॉन लॉक स्मारक व्याख्यान दिये[35] और 1971 में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में बरट्रेंड रसेल स्मारक व्याख्यान[36]। वे अब भी व्याख्यानों और निबंधों द्वारा अपने सिद्धांत से संबंधित भ्रांतियों को दूर करने की चेष्टा कर रहे हैं[37], किंतु प्रश्न भ्रांतियों का नहीं, दो परस्पर विरोधी सिद्धांतों के टकराव का है। कुछ अनुभव-

वादी भाषा-दार्शनिकों ने चॉम्स्की के प्रति उदार दृष्टिकोण अपनाया है[38], किंतु अधिकांश उनके विचारों को उसी अनुभववाद की कसौटी पर जांचना चाहते हैं जिसकी जड़ वे खोद रहे हैं। मसलन, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध दार्शनिक एलिज़ाबेथ एन्सकोम्ब ने यह प्रश्न उठाया है कि चॉम्स्की जिस 'मस्तिष्क' की बात करते हैं, वह है क्या। वह नहीं समझतीं कि कोई भी विचार—या चीज—उसके अंदर हो सकती है।[38] स्पष्ट है कि चॉम्स्की ने जिस अमूर्त अंतर्जात भाषा को समझने के लिए सर्वव्यापक व्याकरण की प्राक्कल्पना की है, उसे वर्णन और व्याख्या की अनुभववादी कसौटी पर ठीक से नहीं कसा जा सकता। जॉन सर्ल जैसे दार्शनिक ने भी, जो चॉम्स्की की तरह भाषा-क्षमता को नियमों और शर्तों के सेट के रूप में मानते हैं, यह स्वीकार किया है चॉम्स्की के द्वारा दिये गये प्रमाण 'विवादास्पद' और 'चुनौती देने लायक' हैं। ऐसा लगता है कि कम-से-कम अनुभववादियों के दृष्टिकोण से इस समस्या का समाधान तभी होगा जब हम मस्तिष्क की क्रियाविधि को समझने लगेंगे। तब तक, हमें दूसरी मानसिक शक्तियों (faculties) को भी समझने की कोशिश उसी तरह करनी चाहिए जिस तरह भाषार्जन की शक्ति और क्रियाविधि को समझने की कोशिश की जा रही है।[39]

रचनांतरणपरक-प्रजनक व्याकरण का विकास

जैसाकि हम लिख चुके हैं चॉम्स्की की पहली पुस्तक **द लॉजिकल स्ट्रक्चर अव लिंग्विस्टिक थिअरी** (भाषाविज्ञान के सिद्धांत की तार्किक संरचना) की पांडुलिपि 1955 में तैयार हो गयी थी, लेकिन कोई उसे प्रकाशित करने के लिए तैयार नहीं था। 1956 में द हेग (हॉलैंड) के मूतों प्रकाशन ने इस पांडुलिपि की कुछ मुख्य बातों को, जो कक्षा में दिये गये चॉम्स्की के व्याख्यानों के नोट थे, छापना स्वीकार कर लिया। यही सन् 1957 में **सिंटैक्टिक स्ट्रक्चर** (Syntactic Structure, वाक्य संरचना) के नाम से प्रकाशित हुई। पुस्तक के प्रकाशन के पहले ही मैसचुसेट्स इंस्टीट्यूट अव टेक्नोलॉजी और हार्वर्ड विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान के अध्यापक और छात्र इसकी विषयवस्तु से परिचित हो चुके थे। पुस्तक के प्रकाशन के कुछ ही महीनों बाद रॉबर्ट बी० लीज़ (1957) ने अमरीकी भाषाविज्ञान परिषद् की मुख्य पत्रिका **लैंग्विज** (भाषा) में इसकी विस्तृत समीक्षा लिखी जिसमें उन्होंने इसे "वैज्ञानिक सिद्धांतों की संरचना की परंपरा में भाषावैज्ञानिक द्वारा किया गया पहला गंभीर प्रयास" कहा। यह एक ऐसा प्रयास था जिसकी तुलना रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान के क्षेत्र में की गयी सैद्धांतिक संरचनाओं (theory construction) से की जा सकती थी। उन्होंने कहा :

> यह न तो मात्र आधार सामग्रियों का पुनर्गठन है और न मनुष्य तथा भाषा के बारे में कोरी दार्शनिक अटकलबाजी। यह भाषा के संबंध में हमारे अंतःज्ञान का यथातथ्य स्पष्टीकरण करता है जिसे प्रत्यक्ष स्वयंसिद्ध (overt axiom) प्रणाली उस पर आधारित प्रमेयों (theorem) और उनके स्पष्ट प्रमाणों के रूप में व्यक्त किया गया है। ये सभी बातें भाषा की आंतरिक संरचना के प्रकट सिद्धांतों पर आधारित हैं और इस तरह से कही गयी हैं कि हम एक किस्म के व्याकरण की तुलना में दूसरे किस्म के व्याकरण को स्वाभाविकता (simplicity) के स्पष्ट मापदंड के आधार पर चुन सकते हैं (लीज़ 1957 : 378)

लीज़ ने इस बात पर जोर दिया कि अमरीकी भाषावैज्ञानिकों की तथ्यों को सुव्यवस्थित और वर्गीकृत करने की पुरानी परंपरा के स्थान पर चॉम्स्की ने कुछ बुनियादी प्रश्नों पर ध्यान केंद्रित किया था, जैसे व्याकरण किस आधार पर लिखे जाएं और उनकी अभिप्रेरणा तथा लक्ष्य क्या हों। लीज़ ने इस बात का भी स्वागत किया कि चॉम्स्की ने मूल्यांकन-प्रणाली को स्थापित करने के लिए न केवल स्वाभाविकता पर, वरन् भाषा की अंतर्निहित व्यवस्था, पर्याप्तता की शर्तों और सामान्यता (generality) पर भी जोर दिया था[40]। यहां पर बता देना अप्रासंगिक न होगा कि चॉम्स्की (1957) ने इन आधारों का प्रयोग कर यह दिखा दिया कि किस प्रकार रचनांतर-प्रजनक व्याकरण परिमित स्थिति (finite state) व्याकरण और पदबंध संरचना (phrase structure) व्याकरण से श्रेष्ठ हैं।[41]

चॉम्स्की (1957) की जिस बात ने भाषा वैज्ञानिकों को सबसे अधिक आकर्षित किया वह थी "रचनांतरण" की उनकी धारणा। उन्होंने कहा कि हर वाक्य के दो रूप हैं, एक उसकी गहन संरचना (deep structure) है और दूसरी उसकी बाह्य संरचना (surface structure)। जैसे हम कह सकते हैं कि (7क) (7ख) की गहन संरचना है।[42]

7. (क) [सरकार [यह सूचना [देना—भूतकाल]]]
   (ख) सरकार ने यह सूचना दी।

उन्होंने यह भी कहा कि हर भाषा में वाक्यों की कुछ मूल संरचनाएं और वाक्यविन्यास के नियम हैं जिनका प्रयोग कर आधार वाक्यों से अन्य वाक्यों को प्रजनित किया जा सकता है। रचनांतरित वाक्यों की प्रतिज्ञप्त विषयवस्तु (propositional contents) वही होती है जो उनके आधार वाक्यों की होती

है, लेकिन रचनांतरण के कारण उनके रूप बदल जाते हैं। रूप परिवर्तन की दृष्टि से रचनांतरण के नियम चार प्रकार के हैं।[43]

(अ) **प्रतिस्थापन के नियम,** जैसे सर्वनामीकरण जिसके अनुसार दो उपपदों में तादात्म्य होने पर दूसरे उपपद की जगह पर उपयुक्त सर्वनाम का प्रयोग होता है। उदाहरण के लिए, (8 क) के दूसरे उपपद के **राम** की जगह (8 ख) में **वह** का प्रयोग हुआ है।

8. (क) जब **राम** घर आया, **राम** थका हुआ था।

(ख) जब राम घर आया, **वह** थका हुआ था।

(आ) **संचालन** (movement) **के नियम,** जिनके अनुसार कुछ शर्तों की पूर्ति होने पर वाक्य के किसी उपपद का स्थान-परिवर्तन हो सकता है। जैसे, (9 क) का कर्त्ता **उसने** (9 ख) में वाक्य के अंत में हो गया है।

9. (क) आखिर **उसने** मेरा काम कर ही दिया।

(ख) आखिर मेरा काम कर ही दिया **उसने**।

(इ) **संयोजन** (conjoining) **के नियम,** जिनके अनुसार कुछ शर्तों की पूर्ति होने पर दो वाक्यों को संयोजित किया जा सकता है। जैसे (10 क) के दोनों उपवाक्यों का कर्त्ता एक ही है; अतः उन्हें (10 ख-ग) में संयुक्त कर दिया गया है।

10. (क) राकेश घर आया। राकेश सो गया।

(ख) राकेश घर आया और सो गया।

(ग) राकेश घर आकर सो गया।

(ई) **अध्याहार** (deletion) **के नियम,** जिनके अनुसार संयुक्त होने पर (या किसी अन्य विशिष्ट स्थिति में) वाक्य के उभयनिष्ठ उपपदों का लोप हो जाता है। जैसे, (10 ख) में द्वितीय उपपद के **राकेश** का अध्याहार।

चॉम्स्की ने कहा कि आधार वाक्य सरल, अस्तिवाचक (positive) और निर्देशक (dec arative) होते हैं और अन्य प्रकार के वाक्य, जिनमें न केवल संयुक्त और संश्लिष्ट वाक्य शामिल हैं, वरन् निषेधात्मक, प्रश्नसूचक वाक्य आदि भी, उन्हीं से विभिन्न नियमों द्वारा रूपांतरित किये जाते हैं। जैसे, (11 ख-घ) (11 क) से (यानी उसकी गहन संरचना से)[44] रूपांतरित किये गये हैं :

11. (क) सरकार ने यह सूचना दी।

(ख) क्या सरकार ने यह सूचना दी ? (प्रश्नवाचक रूपांतरण द्वारा)

(ग) सरकार ने यह सूचना नहीं दी। (निषेधात्मक रू० द्वारा)

(घ) सरकार के द्वारा यह सूचना दी गयी। (कर्मवाच्य रू० द्वारा)

यहां यह भी बता देना उचित होगा कि कोई-कोई बाह्य-संरचना कई रूपांतरणपरक नियमों के लगाने के बाद प्रजनित होती है। जैसे, (12 क) को (12 ख) में बताये गये नियमों को उसी क्रम में लगाने के बाद प्रजनित किया जा सकता है।

12. (क) क्या सरकार (के) द्वारा यह सूचना नहीं दी गयी ?

(ख) सरकार ने यह सूचना दी—निषेधात्मक नियम

(ग) सरकार ने यह सूचना नहीं दी--प्रश्नवाचक नियम

(घ) क्या सरकार ने यह सूचना नहीं दी—कर्मवाच्य के नियम

(च) क्या सरकार (के) द्वारा यह सूचना नहीं दी गयी ?

यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि चॉम्स्की के पहले यस्पर्सन (1924, 1937) जैसे परंपरावादी वैयाकरण ने भी कर्तृवाच्य और कर्मवाच्य के बीच के संबंध की चर्चा की थी लेकिन उन्होंने रचनांतरण की जगह तुल्यता (equivalence) या प्रतिलोम (converse) संबंध की बात कही थी। यहां तक कि हैरिस (1955) ने भी रचनांतरण शब्द का प्रयोग इस तरह किया था कि उसे तुल्यता का ही द्योतक मानना चाहिए।[45] उन्होंने यह तो अवश्य कहा कि कर्तृ- और कर्मवाच्य में रचनांतरणपरक संबंध है, लेकिन यह नहीं कहा कि कर्तृवाच्य के वाक्य आधार वाक्य हैं जिनसे कर्मवाच्य के वाक्य प्रजनित किये जाते हैं। चॉम्स्की ने न केवल इसे स्पष्ट रूप से कहा वरन् ऐसा मानने के लिए अनेक तर्क भी दिये।[46] स्मरणीय है कि उनके सिद्धांत के अनुसार हर नियम को एक ख़ास ढंग से व्यक्त करने के पीछे कोई-न-कोई अभिप्रेरणा होती है जिस लिहाज से उनके लिए हर क़दम पर तर्क देना आवश्यक था।[47]

चॉम्स्की (1957) ने रचनांतरण के नियमों को चार श्रेणियों में रखा है :

(अ) **अनिवार्य तथा अर्थपरिरक्षक** (meaning preserving) **नियम** जैसे, (8 ख) में प्रयुक्त सर्वनामीकरण का नियम या (7 क) से (7 ख) को प्रजनित करने के क्रम में प्रयुक्त 'ने' विभक्ति के सन्निवेश (insertion) का नियम और कर्म-क्रिया-अन्विति (agreement) का नियम। इन नियमों के प्रयोग से आधार वाक्य के अर्थ नहीं बदलते। ये अनिवार्य हैं, यानी इनका प्रयोग न करने पर वाक्य अशुद्ध रह जाते हैं।

(आ) **ऐच्छिक तथा अर्थपरिवर्त्तक नियम** (optional and meaning changing rules)—जैसे (11 ख) में प्रयुक्त प्रश्नवाचक वाक्य बनाने का नियम या (11 ग) में प्रयुक्त निषेधात्मक वाक्य बनाने का नियम। इन नियमों का प्रयोग न करने का वाक्य की शुद्धता पर कोई असर नहीं पड़ता, परंतु

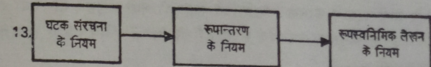
इनके प्रयोग करने से वाक्य के अर्थ बदल जाते हैं।

(इ) **शैलीगत नियम,** जैसे (9 ख) में प्रयुक्त संचालन नियम[49]। ये नियम ऐच्छिक हैं किंतु इनके प्रयोग से अर्थ नहीं बदलते।

(ई) **सामान्यीकृत** (generalised) **नियम** जैसे (10) ख और ग में प्रयुक्त संयोजन के नियम। शैलीगत नियमों की तरह ये भी ऐच्छिक हैं और अर्थ नहीं बदलते, लेकिन ये सिर्फ़ संयुक्त या संश्लिष्ट वाक्यों को बनाने या नामिकीकरण (nominalization) के नियम हैं।

यों नियमों की ये श्रेणियां ठीक लगती हैं, लेकिन हैं नहीं। उदाहरण के लिए, यदि हम वाच्य परिवर्तन नियम को लें तो उसे इनमें से किसी भी श्रेणी में डालने में कठिनाई होती है। वाच्य परिवर्तन का नियम ऐच्छिक है पर अर्थ परिवर्त्तक नहीं हैं, इसलिए उसे उस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। उसे शैलीगत नियम भी नहीं कह सकते क्योंकि वे हमेशा ऐच्छिक होते हैं किंतु वाच्य परिवर्तन नियम कई प्रसंगों में (जैसे, एक ही प्रतिपाद्य (theme) वाले संयुक्त वाक्य में या कुछ प्रसंगों में संबंधवाचक उपवाक्यों में)[50] अनिवार्य हो जाता है। स्पष्ट है कि इसे सामान्यीकृत नियम की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता। इसी तरह की कठिनाई कुछ अन्य नियमों को श्रेणीबद्ध करने के प्रसंग में भी आयी।

रचनांतरण प्रजनक व्याकरण को अन्य व्याकरणों से श्रेष्ठ बताने के लिए चॉम्स्की ने जो तर्क दिये थे उसमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यह व्याकरण वाक्यों की द्विअर्थकता या अनेकार्थकता (ambiguity) को सहज ढंग से बता सकता है। यानी, यदि एक वाक्य के दो अर्थ हैं तो उसे दो अलग-अलग गहन संरचनाओं से प्रजनित किया जायेगा। इसका एक उपप्रमेय (corollary) यह भी हुआ कि यदि दो वाक्यों के एक ही अर्थ हैं तो वे एक ही गहन संरचना से विभिन्न रूपांतरणपरक नियमों द्वारा प्रजनित किये जायेंगे। अर्थ पर आधारित इन तर्कों के बावजूद चॉम्स्की (1957 : 93-94) ने इस बात पर जोर दिया कि उनके व्याकरण का स्वरूप पूरे तौर पर रूपबद्ध (formal) है और वह अर्थ पर निर्भर नहीं है। उनका तर्क यह था कि वे आदर्श भाषाभाषी के भाषिक रूपविषयक अंत:प्रज्ञा से मार्गदर्शन चाहते हैं, अर्थविषयक अंत:प्रज्ञा से नहीं। उन्होंने यह स्वीकार किया कि रूपबद्ध व्याकरणिक विश्लेषण की संरचनाओं के तत्त्वों और उनके अर्थफल (semantic function) में "अद्भुत अनुरूपता" है (पृ० 101)। इसके बावजूद चॉम्स्की (1957) में व्याकरण के स्वरूप के निरूपण में अर्थ का कोई स्थान नहीं है।[51] उस स्वरूप को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार बताया जा सकता है :

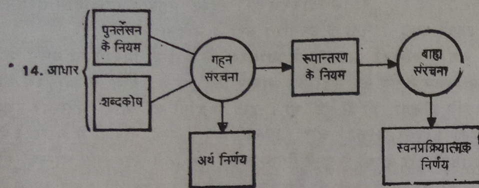
13. 

इसका तात्पर्य यह हुआ कि व्याकरण का उद्देश्य गहन वाक्यविन्यास संरचना को उनकी बाह्य संरचना के उच्चरित रूपों से जोड़ना है।

यद्यपि चॉम्स्की (1957) में व्याकरण के कुछ ही नियमों का वर्णन था, उसमें नियम बनाने के सैद्धांतिक आधार दिये हुए थे; साथ ही व्याकरण की समाकृति प्रक्रिया भी दी हुई थी। इन सिद्धांतों का और परिष्कार हुआ चॉम्स्की (1961, 1962) और (1964) में[52]। इनकी रोशनी में चॉम्स्की के सहयोगियों और छात्रों ने दूसरे नियम बनाने शुरू किये और स्वयं चॉम्स्की की पद्धति को अपनाकर उनके ही नियमों को परिष्कृत करने लगे। सन् 1960 में रॉबर्ट लीज़ की पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें अंग्रेजी की सिर्फ एक संरचना—नामिकीकरण का विशद विश्लेषण था। लीज़ ने इस सुझाव के लिए कई अकाट्य तर्क दिये कि निषेधात्मक वाक्यों को जिन गहन वाक्यों से प्रजनित किया जाता है उनमें 'निषेध' का तत्त्व वर्तमान रहना चाहिए। इस सुझाव की पुष्टि में क्लीमा (1964) ने भी कई तर्क दिये। इस सुझाव को मानने का अर्थ था निषेधात्मक वाक्य बनाने के नियम को अनिवार्य तथा अर्थपरिरक्षक बनाना। उसी दरम्यान कात्स और फ़ोडर (1963) ने यह तर्क दिया कि किसी भी भाषा के सांगोपांग वर्णन के लिए वाक्यों के अर्थ का विवरण आवश्यक है। तदनुसार उन्होंने चॉम्स्की (1957) के व्याकरण में एक और घटक जोड़ दिया—अर्थ का घटक—जिसका उद्देश्य था वाक्यविन्यास घटक द्वारा प्रजनित वाक्यों का अर्थ निर्धारित करना। यों अर्थ-निर्धारण का आरंभ वाक्य में व्यवहृत शब्दों के अर्थों से होता है, लेकिन वाक्य का अर्थ सिर्फ़ शब्दार्थों का योग नहीं होता, उसमें वाक्यविन्यास संरचना का भी योगदान होता है। कात्स और पोस्टल (1964) ने भी व्याकरण में अर्थघटक की व्यवस्था पर जोर दिया। उन्होंने ऐच्छिक तथा अर्थपरिवर्तक नियमों के विरुद्ध कई तर्क दिये और यह दिखा दिया कि अब तक प्रस्तावित सभी नियमों को अनिवार्य तथा अर्थपरिरक्षक नियमों के रूप में संशोधित कर लिखा जा सकता है। उन्होंने चॉम्स्की के सामान्यीकृत नियमों का भी विरोध किया और यह सलाह दी कि अन्य नियमों की तरह उन्हें सीधे घटक संरचना नियमों द्वारा संयुक्त और संश्लिष्ट वाक्यों के रूप में प्रजनित किया जाए। चॉम्स्की (1965) ने इन सभी सुझावों को स्वीकार कर लिया।

चॉम्स्की (1965) में जिन व्याकरणिक सिद्धांतों को प्रतिपादित किया

गया है, उन्हें बाद में **मानक सिद्धांत** की संज्ञा दी गयी। इसमें दी गयी समाकृति-प्रक्रिया के अनुसार व्याकरण के तत्त्वों को निम्नलिखित प्रकार से संगठित करना चाहिये :



अगर इस समाकृति प्रक्रिया को हम वाक्यविन्यास, अर्थ और स्वनप्रक्रिया घटकों के रूप में देखें तो पायेंगे कि सिर्फ वाक्यविन्यास घटक प्रस्तुतिकर्त्ता है, शेष दोनों निर्णयकर्त्ता हैं। हर वाक्यविन्यास घटक के अंतर्गत एक गहन संरचना होती है जिससे अर्थ का निर्णय किया जाता है और एक बाह्य संरचना होती है जो वाक्य की ध्वनियों को निश्चित करती है। यह ध्यान देने की बात है कि (14) में वर्णित समाकृति प्रक्रिया (13) में वर्णित प्रक्रिया से भिन्न है। यह भिन्नता सिर्फ अर्थघटक को ही लेकर नहीं है। (14) की गहन संरचना का भरक (feeder) "आधार" (base) है जिसके दो अंग हैं। एक अंग पुनर्लेखन के नियमों को निर्धारित करता है[53] जिसके अंतर्गत न केवल शाखन (branching) के पदबंध रचना नियम हैं वरन् चयन प्रतिबंध, कोटि संकेत (category symbols) और निश्चित उपकोटिकरण के नियम भी हैं।[54] शब्दकोश के अंदर शब्दभंडार तो है ही उनके निर्णयात्मक तत्त्व (formatives) भी दिये हुए हैं।[55] यह स्पष्ट है कि इस समावृत्ति प्रक्रिया के अनुसार :

(क) वाक्य में प्रयुक्त सभी शब्द आधार घटक में ही आ जाते हैं,
(ख) रूपांतरण से अर्थ परिवर्तन नहीं होता, और
(ग) अर्थ निर्धारण में बाह्य संरचना का कोई योगदान नहीं है।

स्वभावतः इस समाकृति प्रक्रिया में गहन संरचना की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।[56]

'मानक सिद्धांत' के सामने आते ही रचनांतरण-प्रजनक व्याकरण के क्षेत्र में बहुत तेजी से, व्यापक रूप में काम होने लगा जिसके प्रमाण छठे दशक में प्रकाशित अनेकानेक शोधप्रबंध और पुस्तकें हैं।[57] इसके दो कारण थे। एक तो यह कि इसने व्याकरण के विभिन्न पक्षों की पूरी तस्वीर भाषावैज्ञानिकों

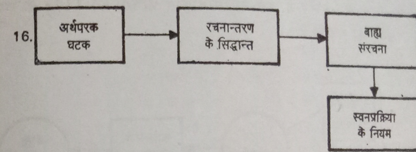
के सामने रख दी जिससे सामान्य भाषावैज्ञानिकों के लिए उन पर काम करना आसान हो गया। दूसरे, पूरा नक्शा सामने होने पर उस प्रतिमान की बुनियादी समस्याओं पर भी प्रश्न पूछने की सुविधा हो गयी। जैसाकि किसी भी नये प्रतिमान के स्थापित होने पर होता है, अधिकांश भाषावैज्ञानिक इससे संतुष्टों होकर विभिन्न भाषाओं के वाक्यविन्यास पर काम करने लगे, लेकिन इन भाषाओं ने कुछ नयी समस्याएं भी खड़ी कर दीं। जैसाकि हम देख चुके हैं, मानक-सिद्धांत के अनुसार बाह्य संरचना, अर्थ-निर्णय में कुछ भी योगदान नहीं करती है। लेकिन पर्लमटर (1971) ने स्पैनिश भाषा के 'युक्त' (clitic) सर्वनामों का विश्लेषण करने पर पाया कि सिर्फ़ गहन संरचना में दी गयी बाध्यताओं (constraints) के आधार पर ही शुद्ध बाह्य संरचना को प्रजनित नहीं किया जा सकता; इसके लिए बाह्य संरचना की बाध्यता या निर्गत बाध्यता (output constraint) की भी आवश्यकता है। तात्पर्य यह कि बाह्य संरचना भी वाक्य को व्याकरण-सम्मत बनाने में योग देती है। इसी बीच के जैकनडफ़ ने यह दावा किया कि एक ही गहन संरचना से प्रजनित अंग्रेज़ी के ऐसे दो वाक्यों में, जिनमें संख्यावाचक विशेषण और निषेधात्मक निपात (particle) दोनों हों, अर्थभेद है और यह भेद इस बात पर निर्भर करता है कि वाक्य की बाह्य-संरचना में संख्यावाचक विशेषण पहले आता है या निषेधात्मक निपात।[58] जैकनडफ़ के इस दावे को मानने का अर्थ था मानक सिद्धांत के एक बुनियादी आधार को बदल देना, यानी यह मानना कि बाह्य संरचना भी अर्थ के निर्णय में योग देती है। इस दावे को नहीं मानने का अर्थ था यह मानना कि संचालन के नियम से (जो निपात का परिवर्तन करता है) अर्थ में परिवर्तन होता है। यह विकल्प भी मानक सिद्धांत की मान्यता के विरुद्ध था। चॉम्स्की (1971) ने इन दोनों में पहले विकल्प को चुना। इस प्रसंग में उन्होंने अंग्रेज़ी के उन वाक्यों की भी चर्चा की जिनकी बाह्य-संरचना बिल्कुल एक है लेकिन बलाघात (stress) में परिवर्तन के कारण अर्थ में भिन्नता है। उन्होंने कहा कि इस भिन्नता को बाह्य संरचना स्तर पर वाक्य के फोकस (focus) और पूर्वमान्यता (presupposition) को निर्धारित कर बताया जा सकता है, इसके लिए दो भिन्न गहन संरचनाओं से उन्हें प्रजनित करना आवश्यक नहीं है।

मानक सिद्धांत को लेकर चलने वाले कुछ अन्य भाषावैज्ञानिक, जिनमें जॉर्ज लेकफ़, जेम्स मैकाले, पॉल पोस्टल और जॉन रॉस प्रधान थे, चॉम्स्की के इस नये प्रस्ताव से सहमत नहीं थे, पर वे यह अवश्य मानते थे कि रचनांतरण से अर्थ परिवर्तन नहीं होता। फलतः उन्होंने यह प्रस्तावित किया कि अर्थ की सभी भिन्नता को गहन संरचना के स्तर पर ही दर्शाया जाए। उदाहरण के

लिए, लेकफ़ (1971) ने भाषातार्किकों की परंपरा के अनुसार संख्यावाचक विशेषणों को विधेय (predicate) मानकर उन्हें प्रतिज्ञप्ति से अलग कर दिया और कहा कि जहां तक अंग्रेजी के संख्यावाचक विशेषण वाले निषेधात्मक वाक्यों का संबंध है, एक अर्थ में उस विशेषण सहित पूरे वाक्य पर निषेधात्मक रचनांतरणपरक नियम लागू होता है और दूसरे अर्थ में सिर्फ़ उस प्रतिज्ञप्ति पर जिसमें संख्यावाचक विशेषण नहीं होता।[59] मैकाले (1968) और पोस्टल (1970) ने अंग्रेजी के कई वाक्यों की अंतर्निहित संरचना इस प्रकार से की कि उनमें वे क्रियाएं मूर्त रूप में नहीं थीं जो बाह्य संरचना में थीं। जैसे, मैकाले ने अंग्रेजी के **किल** (kill, मारना) शब्द को अंतर्निहित संरचना में **डाई** (die, मरना) से प्रेरणार्थक विधि से निकाला और 'मरना' को 'जिंदा नहीं होना' के रूप में वियोजित किया। उन्होंने इस तरह के प्रस्ताव के अनेक लाभ बताए, लेकिन ये प्रस्ताव भी मानक सिद्धांत के विरुद्ध थे क्योंकि इनमें यह आवश्यक नहीं था कि वे सभी शब्द मूर्त रूप में गहन संरचना में रहें ही जो बाह्य संरचना में हैं। इस दृष्टिकोण से देखने पर ये संरचनाएं गहन संरचना थीं ही नहीं। इसलिए मैकाले ने उन्हें "अंतर्निहित (underlying) संरचना" की संज्ञा दी।[60]

उत्तरोत्तर बढ़ती हुई अमूर्त अंतर्निहित संरचना के प्रस्ताव को बल मिला चॉम्स्की के ही सर्वव्यापक व्याकरण की प्राक्कल्पना से। लेकफ़ (1970) ने यह प्रस्ताव रखा कि विशेषण और क्रिया को एक ही व्याकरणिक कोटि विधेय मान लिया जाये क्योंकि उनके वाक्यविन्यासात्मक व्यवहार एक से हैं। बाख़ (1968) ने वाक्यविन्यासात्मक प्रमाणों के ही आधार पर यह दावा किया कि संज्ञाएं भी अंतर्निहित स्तर पर विधेयात्मक हैं। मैकाले (1972) ने यह प्रस्तावित किया कि भाषातार्किकों की तरह भाषावैज्ञानिकों को भी तीन मुख्य कोटियों—प्रतियुक्ति (वाक्य), विधेय (क्रियापद) और युक्ति (नामपद) की बात करनी चाहिए। रॉस (1973) ने यह दिखाया कि संज्ञा, क्रिया और विशेषणों के बीच के व्याकरण संबंधी अंतर अविच्छिन्न (non-discrete) हैं। मैकाले (1970a) ने कहा कि यह दावा किया जा सकता है कि अंतर्निहित संरचना के स्तर पर अंग्रेजी वाक्यों में क्रिया पहले आती है, कर्त्ता और कर्म उसके बाद। रॉस (1970) ने कहा कि हिंदी और जापानी भाषाओं में जो मूलभूत वाक्यसंरचनात्मक अंतर हैं, उनको बताने के लिए यह मानना अधिक तर्कसंगत होगा कि अंतर्निहित संरचना के स्तर पर हिंदी में क्रिया के बाद कर्म आता है और जापानी में कर्म के बाद क्रिया आती है। मैकाले (1968 b, c) ने विस्तारपूर्वक यह बताया कि "आधार घटक" के सभी तत्त्वों के आधार मूलतः अर्थपरक हैं, वाक्यविन्यासात्मक नहीं। उन्होंने यह जोर दिया कि

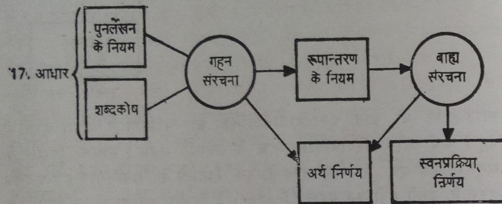
मानक सिद्धांत की समाकृति प्रक्रिया में संशोधन होना चाहिए। इन भाषावैज्ञानिकों के प्रस्तावों के अनुसार जो नयी समाकृति प्रक्रिया सामने आयी वह यह है :



स्पष्ट है कि जो बात इन भाषावैज्ञानिकों को चॉम्स्की से अलग करती है वह है अर्थ और वाक्यविन्यास घटक के आपसी संबंध। मानक सिद्धांत के अनुसार अर्थ एक निर्णायक तत्त्व है, इन विद्वानों के मतानुसार यह प्रजनक घटक है, यानी यही वह भरक (feeder) है जिससे रूपांतरणपरक नियमों के अनुसार, जिनमें शब्द अंतर्निवेश (lexical insertion) के भी नियम शामिल हैं, बाह्य वाक्यों को प्रजनित किया जाता है। इसी कारण (15) में वर्णित समाकृति प्रक्रिया को "प्रजनक अर्थवाद" (generative semantics) की संज्ञा दी गयी और चॉम्स्की तथा उनके समर्थकों के विचार को "निर्णायक अर्थवाद" (interpretive semantics) की। चूंकि प्रजनक अर्थवादियों ने वाक्य के अंतर्निहित रूप को तार्किक रूप के निकट ला दिया था, बहुत से तर्कशास्त्री और भाषादार्शनिक इसके समर्थक बन गये और थोड़े ही दिनों में अमरीक और यूरोप (विशेषकर जर्मनी, फ्रांस, हॉलैंड और स्वीडन) के अनेक भाषावैज्ञानिक प्रजनक अर्थवादी बन गये। प्रायः सात-आठ वर्षों तक (1967-197 के बीच) ऐसा लगा कि प्रजनक अर्थवाद ही इस नये प्रतिमान का जीवंत रूप रह जायेगा।

लेकिन चॉम्स्की चुप रहने वाले नहीं थे। वे वाक्यविन्यास और अर्थ घटकों के अंतर के बारे में दिये गये मानक सिद्धांत पर अड़े रहे, लेकिन अर्थ निर्धारण के संबंध में उन्होंने इस सिद्धांत की त्रुटियों को स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक नयी समाकृति प्रक्रिया प्रस्तावित की जिसके अनुसार आधार के पुनर्लेखन नियम पहले ही जैसे रहे यानी यही गहन संरचना का स्रोत रहा। उन्होंने कहा कि शब्द अंतर्निवेश की प्रक्रिया भी गहन संरचना के स्तर पर ही होगी, साथ ही, वाक्य की क्रिया और संज्ञाओं के विषयगत संबंधों (thema- निर्धारित किया जायेगा।[61] इस tic relations) को भी इसी स्तर पर

समाकृति प्रक्रिया के अनुसार अर्थ निर्णय में गहन संरचना के अतिरिक्त बाह्य संरचना की भी भूमिका होगी, विशेषकर संज्ञा-सर्वनाम के संबंध, संख्यावाचक विशेषण और निषेधात्मक निपात के संबंध तथा फोकस और पूर्वधारणा के संबंध के संदर्भ में। संक्षेप में, इस नयी समाकृति प्रक्रिया को (17) के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :



इसे **विस्तृत** (extended) **मानक सिद्धांत** कहा गया। चॉम्स्की (1971 b, 1972) ने प्रजनक अर्थवादियों द्वारा दिये गये तर्कों के उत्तर देते हुए यह दावा किया कि नये सिद्धांत में मानक सिद्धांत के दोष नहीं हैं, साथ ही यह प्रजनक अर्थवाद जैसा अमूर्त और अनियंत्रित भी नहीं है।

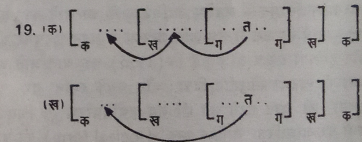
इस नये सिद्धांत की एक विशेषता यह है कि इसमें रूपांतरणपरक नियमों को ज़्यादा सीमित और संयत रूप से प्रस्तुत किया गया है। उदाहरण के लिए हम नामिकीकरण के नियम की चर्चा कर सकते हैं। मानक सिद्धांत के अनुसार (18क) और (18 ख) दोनों को (18 ग) से प्रजनित किया जा सकता है लेकिन 'विस्तृत मानक सिद्धांत' में सिर्फ़ (18 क) को (18 ग) से प्रजनित किया जाएगा; (18 ख) का शब्द अस्वीकृति गहन वाक्य में ही अंतर्निविष्ट रहेगा।[62]

18. (क) आपके इस आवेदनपत्र के अस्वीकार करने से मुझे दुख हुआ।
(ख) आपके इस आवेदनपत्र की अस्वीकृति से मुझे दुख हुआ।
(ग) [[आपने इस आवेदनपत्र को अस्वीकार किया] इससे मुझे दुख हुआ।]

चॉम्स्की को इस बात से इनकार नहीं था कि (18 क) और (18 ख) पर्याय (synonymous) हैं, लेकिन अब वे रूपगत सिद्धांतों के आधार पर क्रियार्थक संज्ञा (gerundive nominals) और व्युत्पादित संज्ञा (derived

nominals) में अंतर मानने लगे थे। उनके इस विचार का एक तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि रूपांतरण-प्रजनक व्याकरण में शब्दरूप प्रक्रिया की ओर ध्यान दिया जाने लगा।[63] दूसरा परिणाम यह हुआ कि जहां भी निर्णायक अर्थवादियों को उपयुक्त रूपांतरणपरक नियमों को बनाने में कठिनाइयां होने लगीं, उन्होंने यह कहना शुरू किया कि उन नियमों की आवश्यकता कहीं नहीं है, यानी विवादग्रस्त रूप गहन संरचना में ही अंतर्निविष्ट हैं।[64]

विस्तृत मानक सिद्धांत को स्थापित करने के बाद चॉम्स्की ने मुख्य रूप से वाक्यविन्यास के नियमों की बाध्यता का अध्ययन करना शुरू किया। उनके एक शिष्य जॉन रॉस (1967) ने, जो बाद में प्रजनक अर्थवादी बन गये, कई ऐसी बाध्यताओं की खोज की जो सर्वव्यापक हैं। जैसे, उन्होंने यह दिखा दिया कि किसी भी भाषा में संयुक्त नाम पद के एक अवयव को उससे अलग कर संचालित नहीं किया जा सकता। चॉम्स्की (1971) ने यह दावा किया कि इन बाध्यताओं को इस तरह सूत्रबद्ध किया जा सकता है कि उन्हें आंख मूंदकर, बिना अर्थ का ध्यान दिये, लागू किया जा सके। उदाहरण के लिए हम "अधःस्थिति (subjacency) के सिद्धांत को देख सकते हैं जिसके अनुसार रूपांतरणपरक नियमों पर यह बाध्यता है कि वे एक वृत्तीय (cyclic) या दो आनुक्रमिक वृत्तीय कोष्ठकों पर ही लागू हो सकते हैं अर्थात् यदि कोई तत्त्व "त" वृत्तीय कोष्ठक "क" में हो जो वृत्तीय कोष्ठक "ग" में है तो उसे संचालित कर "ग" में नहीं लिया जा सकता यदि उनके बीच कोई ऐसा वृत्तीय कोष्ठक "ख" भी है जिनके अंदर "क" है और जो स्वयं "ग" में है।[65] दूसरे शब्दों में, संरचना की प्रक्रिया (19 क) की तरह हो सकती है लेकिन (19 ख) की तरह नहीं।



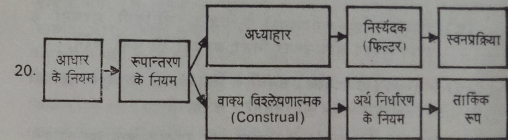
लेकिन जैसाकि यदुराजन (1983) ने दिखाया है यह बाध्यता कन्नड़ के संबंधवाचक उपवाक्यों के कृदंत रूपों के संचालन पर लागू नहीं होती। नियम-बाध्यता के कुछ अन्य उल्लंघनों के उदाहरण ब्रेजनन (1977) ने दिये हैं। बाख (1977 : 144) ने बताया है कि भले ही विशिष्ट उद्देश्य की बाध्यता

(specified subject condition) सर्वव्यापक हो, उद्देश्य की धारणा हर भाषा में एक-सी नहीं है। ऐसी अवस्था में इस सर्वव्यापकता में अधिक सार नहीं रह जाता।[66]

संचालन नियम पर लगने वाली बाध्यताओं के अध्ययन के क्रम में चॉम्स्की (1973a, 1975 b, c) ने अवशेष सिद्धांत (trace theory) को विकसित किया। इसके अनुसार, यदि कोई संचालन नियम किसी तत्त्व 'त' को स्थान "क" से हटाकर "ख" पर रख देता है तो वह "क" पर एक ऐसा अवशेष छोड़ देता है जो "त" से बंधा होता है।[67] यह बात विभक्तिप्रधान भाषाओं में उतने स्पष्ट रूप से नहीं दीखती जितनी विभक्तिहीन या अपेक्षाकृत कम विभक्तिवाली भाषाओं में। लेकिन विभक्तिप्रधान भाषाएं भी इस सिद्धांत को नहीं तोड़तीं। चॉम्स्की ने यह दावा किया कि इस सिद्धांत के अनुसार चलने पर अन्योन्य तत्त्वों के अर्थनिर्णय, विसंबित संबंध निर्देश (disjoint reference) और अन्वादेश (anaphora) की शर्तों को समझना आसान हो जाता है। यहां यह बता देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अवशेष के सिद्धांत के द्वारा चॉम्स्की और उसके सहयोगी अधिकतर वाक्यविन्यास के उन्हीं पक्षों का समाधान ढूंढ़ने की चेष्टा कर रहे हैं जिनको लेकर प्रजनक अर्थवादियों ने वाक्यविन्यास की सार्वभौमिकता को चुनौती दी है।[68] उदाहरण के लिए संज्ञा और उनके संबंध निर्देशक (coreferential) सर्वनाम के सहनिर्देशन (co-indexing) की जो बात मैकाले (1970 b) ने की थी, उसे ही चॉम्स्की (1975, 1977b) भी कर रहे हैं। अंतर इतना ही है कि मैकाले ने इसे तार्किक संकेत की मान्य पद्धति को अपनाकर किया है, किंतु चॉम्स्की के अवशेष के सिद्धांत पर आधारित सहनिर्देशन का ऐसा कोई ठोस सैद्धांतिक आधार स्पष्ट नज़र नहीं आता।

विस्तृत मानक सिद्धांत में अवशेष के सिद्धांत के आ जाने का तात्कालिक परिणाम यह हुआ है कि उसकी समाकृति प्रक्रिया में गहन संरचना की भूमिका और कमजोर हो गयी। सच तो यह है कि (1975) तक आते-आते चॉम्स्की ने गहन संरचना की धारणा को त्याग दिया और उसके स्थान पर "आरंभिक पदबंध संरचना" की बात करने लगे।[69] अब अर्थनिर्धारण के लिए वे सीधे बाह्य संरचना पर आधारित "तार्किक रूप" (logical form) की बात करने लगे। चॉम्स्की (1977a : 165) के अनुसार तार्किक रूप "अर्थ के उस अंश का प्रतिनिधित्व करता है जिसे वाक्य संरचना द्वारा निर्धारित किया जाता है।" यह मानक सिद्धांत की बाह्य संरचना नहीं है, वरन् उससे ज्यादा अमूर्त है। यह वह स्तर है जिसपर "सिर्फ भाषिक नियमों द्वारा निर्धारित अर्थ तत्त्वों का प्रतिनिधित्व किया गया है" (पृ० 145)। यह ध्यान देने की बात है कि

अभी चॉम्स्की इस तार्किक रूप को वाक्य का अर्थपरक प्रतिरूपण (semantic reprsentation) नहीं मानते। दूसरे शब्दों में, प्रजनक अर्थवादियों से अर्थ के विषय में जो उनका मूलभूत मतभेद था, वह अभी भी वर्तमान है हालांकि दूसरे क्षेत्रों में वे एक-दूसरे के निकट आते नज़र आते हैं।[70] इस अंतर को हम चॉम्स्की और लाज्निक (1977) में दी गयी समाकृति प्रक्रिया की तुलना (16) में दी गयी प्रक्रिया से करके समझ सकते हैं।



(20) को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस समाकृति प्रक्रिया के अंतर्गत रूपांतरण के बाद दो समानांतर धाराएं हैं। एक अध्याहार, फिल्टर[71], आदि के बाद वाक्य का उच्चरित रूप देती है (जो मानक सिद्धांत की बाह्य संरचना के तुल्य है) और दूसरी अवशेष के सिद्धांत एवं अर्थनिर्णय के अन्य नियमों के लगाने के बाद "तार्किक" रूप देती है। कहना नहीं होगा कि यह तार्किक रूप मानक सिद्धांत के अनुसार बाह्य संरचना नहीं है और न यह गहन या मध्यवर्ती संरचना ही है। लेकिन यह समानांतर धारा का अंतस्थ बिंदु है, इसीलिए चॉम्स्की ने इसे 'अमूर्त बाह्य संरचना' कहा है।

जैसाकि हम देख चुके हैं, मानक सिद्धांत (1965) के प्रकाशन के बाद चॉम्स्की पहले तो इसकी रक्षा में लगे रहे, फिर इसे विस्तृत और परिष्कृत करने में। इस विस्तृत और परिष्कृत विचारधारा की पूरी तस्वीर उभड़कर आयी है चॉम्स्की (1981) में, जिसे उन्होंने "सार व्याकरण" (core grammar) की संज्ञा दी है। इस व्याकरण की समाकृति प्रक्रिया वही है जो (20) में बतायी जा चुकी है। इसका भी लक्ष्य वही है जो चॉम्स्की के अन्य व्याकरणिक सिद्धांतों का रहा है, यानी सर्वव्यापक व्याकरण का अन्वेषण। लेकिन इस सर्वव्यापक व्याकरण का चरित्र बदल गया है। रचनांतरण प्रजनक व्याकण के सिद्धांतों के प्रसार के प्रारभिक दिनों में चॉम्स्की सर्वव्यापक वाक्यविन्यस नियमों (जैसे कर्मवाच्य, प्रश्नसूचक वाक्य, संबंध वाक्य उपवाक्यबनाने के नियम) की खोज में थे, अब वे उन आधारों की खोज में हैं, जिनके द्वारा इन नियमों को अमूर्त स्तर पर वियोजित (decomposed) किया जा सके। चॉम्स्की

ने उस आधार की प्राक्कल्पना अंत:क्रियात्मक (interactional) उपव्यवस्थाओं (subsystems) के रूप में की है जिनके मुख्य घटकों (जैसे, शब्दकोश, वाक्य-विन्यास जिसमें कोटिकरण और रचनांतरण के उपघटक शामिल हैं, स्वनिक रूप तथा तार्किक रूप) की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। चॉम्स्की ने जिन सिद्धांतों की उपव्यवस्था के अंत:क्रियात्मक अध्ययन पर जोर दिया है, वे हैं :

(क) **परिबद्धता** (bounding) के सिद्धांत, जो व्याकरणिक प्रक्रियाओं की स्थानीय सीमाओं की चर्चा करेंगे,

(ख) **अनुशासन** (government) के सिद्धांत, जो किसी संरचना के प्रधान अवयव और उसपर निर्भर अवयवों की चर्चा करेंगे,

(ग) **विषयगत** (thematic) संबंधों के सिद्धांत, जो वाक्य के नामपदों और क्रिया के संबंध को निर्धारित करेंगे,

(घ) **बाध्यता** (binding) के सिद्धांत, जो सर्वनाम, अन्वादेश, व्यक्ति-वाचक संज्ञा, परिवर्ती (variable) और पूर्वपद से उनके संबंध की चर्चा करेंगे,

(च) **कारक** के सिद्धांत जो कारकों और उनकी विभक्तियों की चर्चा करेंगे, और

(छ) **नियंत्रण के सिद्धांत**, जो अमूर्त सार्वनामिक तत्त्व के संभावित संदर्भ को निश्चित करेंगे।

जैसाकि चॉम्स्की ने स्वयं स्वीकार किया है, विषयगत संबंध और कारक की धारणा में अंतर बताना कठिन है। उसी तरह बाध्यता और नियंत्रण के सिद्धांत भी प्राय: अभिन्न हैं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वाक्यविन्यास में जो कुछ होता है, वह इन सिद्धांतों की अंत:क्रिया का फल है। इसीलिए चॉम्स्की यह आशा करते हैं जिस प्रकार प्राग स्कूल के भाषावैज्ञानिकों ने स्वनिमों को स्वनिक विशिष्टताओं के रूप में विश्लेपित किया, उसी प्रकार वे वाक्यविन्यास के नियमों को इस अंत:क्रियात्मक उपव्यवस्था की विशिष्टताओं के रूप में विश्लेषित कर सकेंगे। वे मानते हैं कि ऐसा करने पर ही सर्वव्यापक व्याकरण का सही रूप सामने आयेगा।

"सार व्याकरण" के निकले अभी डेढ़ ही वर्ष हुए हैं और यह कहना कठिन है कि उनके सिद्धांतों के आधार पर काम करने से भाषा के सर्वव्यापक व्याकरण की सही तस्वीर निकल पायेगी, लेकिन ऐसा नहीं होने पर भी चॉम्स्की की देन क्रांतिकारी ही समझी जायेगी। जैसाकि ऊपर के विश्लेषण में बताया गया है, उनके द्वारा दिये गये कई सिद्धांत और नियम अपर्याप्त या

ग़लत साबित हुए हैं, लेकिन उनके द्वारा दिये गये प्रतिमान का मूलभूत सिद्धांत अक्षुण्णय है। चाहे हम गहन संरचना की धारणा को मानें या न मानें, चाहे हम उसे अंतर्निहित संरचना कहें या तार्किक सरचना, यह बात अब वैयाकरणों के लिए सर्वमान्य है कि किसी भी वाक्य के संबंध में हमारी समझदारी उसके उच्चरित (या लिखित) रूप तक ही सीमित नहीं है, उसके अंदर कई ऐसे तत्त्व हैं जो बाह्य संरचना में नहीं होते लेकिन उसके प्रजनक की जड़ में हैं।[72] इन्हें समझे बिना वाक्यार्थ को पूरे तौर पर समझना कठिन है। चाहे हम इन्हें रूपांतरण के नियम के रूप में समझें या इन नियमों के आधार—बाध्यता और नियंत्रण—के रूप में, लेकिन समझना इन्हें आवश्यक है। प्रश्न सिर्फ़ यही नहीं है कि इन्हें कितना अमूर्त, संयत, नियंत्रित और सर्वव्यापी बनाया जाए वरन् यह भी है कि ऐसा क्यों और कैसे किया जाए। संभव है, चॉम्स्की ने व्याकरण लिखने के संबंध में मौलिक प्रश्न उठाकर विभिन्न व्याकरणों के बीच प्रतियोगिता का द्वार सदा के लिए खोल दिया हो। अब हमें सिर्फ़ यही नहीं देखना है कि किस व्याकरण ने कितनी समस्याओं का हल किया है, वरन् यह भी देखना है कि ऐसा करने के क्रम में उसने कितनी कम भाषावैज्ञानिक समस्याएं पैदा की हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि अब मूल्यांकन के लिए हम सिर्फ़ अनुभवमूलक प्रश्नों को ही नहीं देखते वरन् संकल्पनात्मक (conceptual) प्रश्नों को भी। यह सब मुख्यत: चॉम्स्की द्वारा लायी गयी क्रांति के कारण ही संभव हो सका है।

चॉम्स्की के राजनैतिक विचार

जब चॉम्स्की ने ऑक्सफ़र्ड विश्वविद्यालय में जॉन लॉक स्मारक भाषण दिये थे, उन्हें सुनने के लिए अध्यापकों सोर छात्रों की अपार भीड़ जमा हो गयी थी। कहते हैं, ऐसी भीड़ बरट्रेंड रसेल के बाद किसी के लिए इकट्ठी नहीं हुई थी। कई पर्यवेक्षकों का अनुमान है कि इसका कारण यह था कि चॉम्स्की वियतनाम युद्ध के विरुद्ध थे, शांति आंदोलन और 'ड्राफ्ट प्रतिरोध' के अग्रणी नेता थे, और उन दिनों ऑक्सफ़र्ड के वातावरण में अमरीका की वियत-नाम नीति के विरुद्ध ज्वार उठा हुआ था। इसमें शक नहीं कि अमरीकी नव-उपनिवेशवाद के विरुद्ध व्यक्त चॉम्स्की के विचारों ने उन्हें विश्वविख्यात कर दिया। ध्यान देने की बात यह है कि अमूर्त सैद्धांतिक स्तर पर उनका यह विरोध उन्हीं कारणों से है जिन कारणों से वे अनुभववाद और व्यवहारवाद के विरुद्ध हैं। चॉम्स्की अपने को मूल रूप से अराजकतावादी (radical anarchist) और इच्छास्वतंत्रवादी (libertarian) मानते हैं। वे यह नहीं मानते कि किसी भी स्तर पर—चाहे वह भाषा की बात हो चाहे सामाजिक व्यवस्था की—

व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप किया जाए। जिस प्रकार वे यह नहीं मानते कि भाषाव्यवहार केवल पुनर्बलन द्वारा नियंत्रित है, उसी प्रकार वे यह भी नहीं समझते हैं कि मानव जीवन को पर्यावरणी अनुकूलन (environmental conditioning) द्वारा नियंत्रित किया जाए।[73] इसी कारण उन्होंने अमरीकी बुद्धिजीवियों के सरकारपरस्त रवैयों का विरोध किया है, खासकर विश्वविद्यालयों के उन प्राध्यापकों का और जनसंपर्क माध्यमों (मास मिडिया) में काम करनेवाले उन व्यक्तियों का जो स्थापित अमरीकी विचारधारा के विरुद्ध बोलना अनुचित ही नहीं समझते, वरन् ऐसा करनेवालों का विरोध या कम-से-कम, तिरस्कार करते हैं।[74] छठे दशक में अमरीकी विश्वविद्यालयों में हुए उपद्रवों और छात्र आंदोलनों के लिए चॉम्स्की ने इन्हीं सरकार समर्थक बुद्धिजीवियों को उत्तरदायी माना है। उन्होंने यह आशा व्यक्त की है कि इन आंदोलनों के फलस्वरूप अमरीकी विश्वविद्यालयों में आत्मनिर्भरता आयेगी जिसकी वजह से अध्यापकों और छात्रों की सृजनशक्ति का विकास हो सकेगा।[75]

चॉम्स्की ने वियतनाम युद्ध का विरोध सिर्फ़ इसलिए नहीं किया कि उससे वियतनामी और अमरीकी जनता को अपार क्षति हुई, वरन् इसलिए कि वे सैद्धांतिक तौर पर यह मानते थे कि वियतनाम में किस तरह की सरकार हो इसका फ़ैसला वियतनामियों को स्वयं करना चाहिए, अमरीकी सैनिकों को नहीं। इसी सिद्धांत के आधार पर वे इज़राइल की फिलिस्तीनी नीति का भी विरोध करते हैं। वे किसी भी प्रकार की लादी हुई आर्थिक या सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध हैं, ठीक उसी तरह जिस तरह वे स्किनर के व्यवहारवाद के विरुद्ध हैं क्योंकि उसका उद्देश्य पुनर्बलन द्वारा सामाजिक नियंत्रण करना है।[76]

चॉम्स्की का यह विचार कि मनुष्य स्वभावतः अनियतिवादी और रचनात्मक प्राणी है, उनके भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों के अनुरूप हैं। इसीलिए वे अपने भाषावैज्ञानिक और राजनैतिक कार्यों में तालमेल की कोई कमी नहीं पाते।[77] आश्चर्य नहीं कि भाषा और समाज के संबंध में उनके विचार दकार्ते, हुम्बोल्ट और रसेल के विचारों से बहुत-कुछ मिलते हैं।[78] एक अंतर यह है कि चॉम्स्की भाषा के अध्ययन के माध्यम से मानवतावादी समाजविज्ञान के विकास के बारे में जितने उत्साही हैं, उतना ये भाषादार्शनिक नहीं थे। इसमें संदेह नहीं कि यदि चॉम्स्की को अपने लक्ष्य की उपलब्धि में सफलता मिली तो भाषा का अध्ययन मानव चिंतन के अध्ययन का कारगर तरीका बन जायेगा। अगर नहीं भी मिली तो यह लक्ष्य बहुत दिनों तक भाषावैज्ञानिकों को आंदोलित और उत्साहित करता रहेगा।

पाद-टिप्पणियां

1. सस्यूर ने सामान्य भाषा विज्ञान सम्बन्धी भाषण 1907 में जिनेवा विश्वविद्यालय (स्विट्ज़रलैंड) में देना शुरू किया। उन्होंने अपने अधिकांश सिद्धान्तों को 1907-13 के बीच विभिन्न भाषणों में प्रतिपादित किया जो उनकी मृत्यु के बाद पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए। चॉम्स्की की पहली पुस्तक (Syntactic Structure) (वाक्य संरचना) 1957 में प्रकाशित हुई। उनके सिद्धान्तों की पहली रूपरेखा 1957-1965 के बीच मैसचुसेट्स इन्स्टीट्यूट अव टेकनोलोजी में दिये गये उनके व्याख्यानों में विकसित हुई।
2. सर्ल ने "क्रान्ति" शब्द का प्रयोग कुन (Kuhn) (1962) के अर्थ में किया है। कुन के मतानुसार जब किसी भी विद्याविधा के स्थापित प्रतिमान में असंगतियां आ जाती हैं और उस प्रतिमान के अन्तर्गत उनका हल नहीं निकल पाता तब नयी विचारधारा का उदय होता है जो न सिर्फ़ उनका हल निकालती है वरन् पूरी विधा को नये रूप में देखने का विकल्प रखती है। चूंकि वह विचारधारा अन्य प्रतियोगी विचारधाराओं से श्रेष्ठ सिद्ध होती है, वह पुराने प्रतिमान के स्थान पर नये प्रतिमान के रूप में मान ली जाती है।
3. इस कथन के महत्त्व की चर्चा चॉम्स्की के अव्यवहारवाद (anti-behaviourism) के सन्दर्भ में बाद में की जायेगी।
4. देखिये हैरिस (1951) के पृ० 12 से 24 तक। इसी आशय के विचार हॉकेट (1942, 1947) ने भी व्यक्त किये हैं।
5. यहाँ वेल्ज के द्वारा दिये गये उदाहरण (old men and women) की जगह उपयुक्त हिन्दी उदाहरण की चर्चा की गयी है। जहाँ भी सम्भव होगा, ऐसी ही कोशिश की जाएगी। हिन्दी उदाहरणों से सैद्धान्तिक बिन्दु के स्पष्ट नहीं होने की सम्भावना रहने पर ही अंग्रेजी उदाहरण दिये जायेंगे।
6. देखिये चॉम्स्की (1975a) की "प्रस्तावना" के पृ० 25-27.
7. जैसा कि चॉम्स्की (1977a : 112) ने स्वयं स्वीकार किया है, नियमों को क्रमिक रूप से लागू करने की परंपरा भारतीय भाषावैज्ञानिक पाणिनि ने आज से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पहले चलायी थी किन्तु शोध प्रबन्ध लिखते समय चॉम्स्की को इस बात की कोई जानकारी नहीं थी। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नियमों को क्रम से रखने और लागू करने के सम्बन्ध में पाणिनि और चॉम्स्की के विचारों में कुछ अन्तर है। विस्तार से इस बात को समझने के लिए देखिये किपार्स्की (1968 : 179-183).
8. जैसा कि चॉम्स्की (1975a : 30) ने लिखा है मारिस हाले और उनके गुरु रोमन याकोब्सन के मन में खोज प्रक्रिया के सम्भव में कई शंकाएं थीं लेकिन वे अभी चॉम्स्की के क्रान्तिकारी विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं हो पाये थे।
9. यह 1975 में प्रकाशित हुई हालांकि माइक्रोफ़िल्म और मिमिओग्राफ़ के रूप में यह 1956 से ही प्रसारित होती रही। यह बात मार्के की है कि इसकी पाण्डुलिपि को एम० आई० टी० प्रेस ने सरसरी तौर पर अस्वीकृत कर दिया था और इस पर आधारित एक निबन्ध को भाषाविज्ञान की प्रसिद्ध पत्रिका लैंग्विज ने लौटती डाक से वापस भेज दिया था। [देखिये चॉम्स्की (1975a) का आमुख पृ० 3].

10. अगर हम स्तरों के विलगाव की बात भूल जाएं और स्वनिमों और रूपिमों को स्वतंत्र इकाइयों के रूप में देखने पर जोर न दें तो अंग्रेजी क्रिया टुक (took) के विश्लेषण को लेकर जिन समस्याओं की चर्चा हॉकिट ने की है, वे अपने आप समाप्त हो जायेंगी।

11. 'कोटि' के स्थान पर 'शब्द' का प्रतिस्थापन संदर्भ संवेदित (context-sesitive) नियमों के आधार पर किया जाएगा जिन्हें यहाँ जानबूझकर छोड़ दिया गया है।

12. यहाँ विस्तार के भय से उन नियमों को छोड़ दिया गया है जिनके अनुसार सहायक क्रिया और मुख्य क्रिया को साथ मिलाकर दौड़ा रहा है प्रजनित किया जा सकेगा।

13. जैसा कि चॉम्स्की (1977a : 108) ने कहा है, आधुनिक भौतिक विज्ञान में भी यह लक्ष्य कभी नहीं रहा है कि पहले सभी तथ्यों को इकट्ठा कर लिया जाए, फिर उनका विश्लेषण किया जाए। भौतिक वैज्ञानिकों की सफलता का एक रहस्य यह है कि उन्होंने अपना ध्यान उन निर्णायक तथ्यों तक सीमित रखा है जो भौतिक जगत की समझदारी में उनकी सहायता करते हैं।

14. वैज्ञानिक अन्वेषण के लिए मिथ्यापनीयता (falsifiability) का यह मापदण्ड सबसे पहले सर कार्ल पॉपर (1959) ने स्थापित किया जिसे अब शोध प्रणाली का अभिन्न अंग माना जाता है।

15. जैसे, यदि किसी सामान्यीकरण के साथ 'बहुधा', 'अधिकतर' आदि क्रियाविशेषण जोड़ दिये जाएं तो उन्हें मिथ्या सिद्ध करना असम्भव हो जायेगा।

16. देखिये हैरिस (1965) और चॉम्स्की (1977a : 122).

17. जैसा कि बी॰ एफ॰ स्किनर (1974 : 3) ने कहा है, "व्यवहारवाद मानवीय व्यवहार का विज्ञान नहीं, वरन उस विज्ञान का दर्शन है।" व्यवहारवाद का यही दार्शनिक पक्ष भाषादार्शनिकों को आकर्षक लगा था।

18. उदाहरण के लिए गुडमन (1951) में रचनात्मक पद्धति (constructional system) पर उनके विचार देखिये।

19. क्वाइन (1953) में पर्यायता को उद्दीपन और अनुक्रिया की समानता के रूप में देखा गया है।

20. देखिये चॉम्स्की 1959 (1964 : 574).

21. हाल के वर्षों में मनोवैज्ञानिकों ने विकि, वाशो और सयरा जैसे वनमानुषों (चिम्पैंजियों) पर मानवीय भाषा सिखाने के जो प्रयोग किये हैं, उनमें अथक प्रयास के वावजूद बहुत ही सीमित सफलता मिली है। इस सफलता की तुलना मानव शिशु के भाषार्जन की सफलता से नहीं की जा सकती। इन प्रयोगों की विस्तृत जानकारी के लिए लिंडन (1974) को देखिये।

22. विस्तार से इन लेखकों को समझने के लिए देखिये स्मिथ एवं मिलर (सं॰) (1966)। यहां यह बता देना आवश्यक है कि मैकनील और पिआझे (Piaget) ने विकासात्मक मनोविज्ञान में महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक अन्तर है।

23. शायद भाषा के प्रति मनोवैज्ञानिकों के परिवर्तित दृष्टिकोण के सबसे अच्छे उदाहरण रॉजर ब्राउन (1970) के निबन्ध हैं। जैसा कि ब्राउन ने स्वयं स्वीकार किया है (पृ॰ VIII), उनके आरम्भिक शोध निबन्धों पर वर्णनात्मक भाषा विज्ञान (व्यवहारवाद) की छाप है और बाद के निबन्धों पर चॉम्स्की के प्रजनक व्याकरण के सिद्धान्तों

की। ब्राउन (1973) ने बच्चों की प्रथम भाषा सीखने की प्रारंभिक अवस्था के बारे में किये गये अपने शोधकार्यों का विस्तृत विश्लेषण किया है। अंग्रेजी के चौदह व्याकरणिक रूपिमों के सीखने की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यह काफ़ी हद तक आदत डालने की प्रक्रिया-सी लगती है लेकिन यह पता नहीं चलता कि इन रूपिमों के पुनर्बलन की परिस्थितियां क्या हैं यानी ऐसी कौन सी परिस्थितियां हैं जिनकी उपस्थिति में उनके प्रयोग की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। "ऐसा भी नहीं लगता कि ऐसी कोई परिस्थिति है भी।" (पृ॰ 389).

24. इस प्रसंग में प्रसिद्ध जैव भाषावैज्ञानिक एरिक लेनबर्ग (1973 : 54) के विचार देखिये :

"भाषा सीखने की हमारी क्षमता न तो दृष्टि और श्रवण के बीच के विशिष्ट सम्बन्ध के कारण है और न मानव मस्तिष्क के आकार या सामान्य बुद्धि में वृद्धि के कारण। कुछ-न-कुछ हमारे मस्तिष्क में अवश्य होता है जो दूसरे जीवों के मस्तिष्क में नहीं होता। हमें नहीं मालूम कि वह क्या है, लेकिन हम भाषिक प्रणाली का यत्नपूर्ण विश्लेषण कर ऐसे प्रश्नों को समझने का आरम्भ कर सकते हैं।"

25. ग्रेगरी (1968) ने (दृष्टि) भ्रम को प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक दोष नहीं मानकर वास्तविक प्रत्यक्षज्ञान (perception) माना है जो इन्द्रियानुभूत आधार सामग्री के अपर्याप्त होने पर होता है मानो मस्तिष्क कुछ ठीक से तय नहीं कर पाता। इस अर्थ में यह दृष्टि-निष्पादन है, दृष्टिक्षमता नहीं।

26. वाइनबर्ग ने दार्शनिक हसर्ल (Husserl) द्वारा प्रयुक्त "भौतिकविज्ञान में गैलिलियो की शैली" (Galilean style) पर टिप्पणी करते हुए कहा है : इसका अर्थ है "विश्व का अमूर्त गणितीय प्रतिरूप (mathematical model) बनाना"। महत्त्व की बात यह है कि ये प्रतिरूप इतने उपयोगी सिद्ध हुए हैं कि भौतिक वैज्ञानिकों के लिए ये आम दुनिया के अनुभवों से ज्यादा महत्त्व के हैं।

27. देखिये 'पूंजी' (भागर, पृ॰ 16, अंग्रेजी संस्करण)। यहां यह जोड़ देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि कार्ल मार्क्स के अनुसार 'पूंजी' अलग से कोई चीज नहीं है, वरन "सामाजिक उत्पादन का एक निश्चित सम्बन्ध" है और अर्थशास्त्र अन्ततोगत्वा वर्ग-सम्बन्ध का अध्ययन है। अमूर्तता के पक्ष में अन्य तर्कों के लिए देखिये चॉम्स्की (1977a : 43-62; 1978 : 4-18).

28. इन बातों को विस्तार से समझने के लिए देखिये चाम्स्की (1965), खासकर उसका पहला अध्याय।

29. विशेषकर उसका आठवाँ अध्याय देखिये जिसमें उन्होंने अंग्रेजी के उन वाक्यों के अर्थ का प्रश्न उठाया है जो प्रश्नवाचक और निषेधात्मक दोनों हैं।

30. इसके विपरीत चॉम्स्की (1969 : 62-63) ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि यह कहना गलत है कि किसी बच्चे में अंग्रेजी सीखने की अन्तर्जात युक्ति है क्योंकि वही बच्चा अंग्रेजी के साथ (या उसके बदले में) जापानी भी सीख सकता है। इस स्पष्टीकरण के बावजूद कई भाषावैज्ञानिकों ने यह कहकर चॉम्स्की की आलोचना की है कि बच्चे के मस्तिष्क में किसी भाषा विशेष के नियम अन्तर्जात रूप से कैसे हो सकते हैं। इस सम्बन्ध में गम्भीर आलोचना के लिए देखिये डरविंग (1973 : 63-83).

31. चॉम्स्की के 'सर्वव्यापक व्याकरण' को ग्रीन बर्ग जैसे भाषावैज्ञानिकों की "भाषायी सर्बव्यापकता" (language universal) का पर्याय नहीं समझना चाहिए। पहले का

उद्देश्य भाषाओं की अन्तर्निहित—मूलाधार—समानता का पता लगाना है और दूसरे का भाषाओं के बाह्य स्वरूपों की समानता का वर्णन कर उनका प्ररूप (typology) स्थापित करना। विशेष जानकारी के लिए देखिये मैथ्यूज (1982).

32. हुक (1969) की प्रस्तावना और उनका लेख देखिये।

33. देखिये 'सिथीज़' (Synthese XVII.I) मार्च 1967 में बॉस्टन में हुई 'अन्तर्जात प्राक्कलन विचारगोष्ठी' की रिपोर्ट। चॉम्स्की, गुडमन और पटनम के भाषण सर्ल (सं० 1971) में भी संगृहीत हैं।

34. देखिये मेहता (1971 : 182-185).

35. इन भाषणों का एक प्रमुख अंश गुण्डरसन (1975) में प्रकाशित हुआ है।

36. ये भाषण चॉम्स्की (1971a) में संगृहीत हैं।

37. देखिये चॉम्स्की (1975c) और चॉम्स्की (1980).

38. देखिये मेहता (1971 : 239).

39. देखिये मेहता (1971 : 185).

40. देखिये चॉम्स्की (1957) का छठा अध्याय (विशेषकर उसका पहला खण्ड) जिसे चॉम्स्की ने यहां सामान्यता की शर्त कही है, उसे ही बाद में सर्वव्यापकता की संज्ञा दी है।

41. चॉम्स्की (1957) के तीसरे, चौथे और पांचवें अध्याय को देखिये।

42. रचनान्तरण प्रजनक व्याकरण के गहन वाक्यों के विभिन्न अवयवों के प्रभुत्व (dominance) और आश्रय (dependency) सम्बन्ध को बताने के लिए वृक्ष आरेख की पद्धति सबसे उपयुक्त है। यहां उसके विकल्प के रूप में कोष्ठक की पद्धति अपनायी गयी है जो गणित के सिद्धान्तों के अनुसार काम करती है यानी सबसे पहले अन्तरतम के कोष्ठक में नियम लगाइये, फिर उसके बाहर के कोष्ठक में और आखिर में सबसे शुरू के कोष्ठक में।

43. यह वर्गीकरण हमने किया है, चॉम्स्की (1957) ने नहीं। इसका उद्देश्य विभिन्न नियमों की प्रकृति को समझाना है।

44. प्रजनक व्याकरण की पद्धति को ठीक से अपनाने पर इन वाक्यों को प्रजनित करने में कई और नियम हैं (जैसे क्रिया के लिंग, वचन आदि के निर्धारण का नियम) जिन्हें यहां विषय को सरल करने की दृष्टि से छोड़ दिया गया है।

45. जैसे, यस्पर्सन (1924 : 164) ने कर्तृ और कर्मवाच्य के वाक्यों के बीच "=" चिह्न का प्रयोग किया है और हैरिस (1968) ने "—' (द्विदिशानिर्देशक तीर) का। हैरिस और चॉम्स्की के रचनान्तरण के अन्तर को समझने के लिए चॉम्स्की (1977a : 119-124) देखिये।

46. जैसे, सभी कर्मवाच्य के कर्तृवाच्य रूप होते हैं लेकिन सभी कर्तृवाच्य के कर्मवाच्य रूप नहीं होते।

47. इस दृष्टिकोण से देखने पर हैरिस के 'रूपान्तरण' और चॉम्स्की के 'रूपान्तरण' में बुनियादी अन्तर है और हैरिस को चॉम्स्की का सैद्धान्तिक पूर्वज (prodecessor) नहीं कहा जा सकता।

48. इस बात को विस्तार से समझने के लिए चॉम्स्की [1958 (1964)] को देखिये।

49. यह सोचना गलत होगा कि सभी संचालन नियम शैलीगत नियम हैं।

50. विस्तार के लिए देखिये सिन्हा (1974 तथा 1979 का दूसरा अध्याय)।

51. जैसा कि चॉम्स्की (1977a : 137-140) ने कहा है, 'सिंटैक्टिक स्ट्रक्चर' में स्पष्ट रूप से अर्थ के एक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था जो मुख्यतः गुडमन और क्वाइन की कृतियों पर आधारित था। हालांकि उन्हें क्वाइन का यह मत अस्वीकार्य था कि व्याकरणिक धारणाओं को अर्थ के आधार पर निर्धारित किया जाए।

52. 1962 में एम० आई० टी० में भाषावैज्ञानिकों का तीसरा विश्व-सम्मेलन हुआ जिसके मुख्य विशेष वक्ता नोम चॉम्स्की ही थे। इस रंगमंच से उन्हें दुनिया के चुने-चुनाये भाषावैज्ञानिकों के सामने अपने नये सिद्धान्तों को रखने का मौका मिला।

53. पुर्नलेखन नियम पदबन्ध संरचना के नियमों का एक सेट है, जैसे (4) में दिये गये नियम। बाद में उन्हें एक्स-बार (X-bar) नियमों के रूप में परिष्कृत किया गया है।

54. चयन प्रतिबन्ध बताता है कि किसी वाक्य संरचना में किसी खास भूमिका में कैसे शब्दों या उपपदों का प्रयोग हो सकता है। जैसे, 'हंसना' क्रिया के साथ कर्त्ता के रूप में आने वाली संज्ञा 'सजीव' होती है या 'दूध' के साथ 'बहुत' का प्रयोग हो सकता है, किन्तु 'अनेक' का नहीं। कोटिकरण के अन्दर उपपदों की व्याकरणिक कोटियों (जैसे, वाक्य, संज्ञा, क्रिया) को निर्धारित किया जाता है और सुनिश्चित उपकोटिकरण (strict sub-categorization) के अन्तर्गत यह बताया जाता है कि किस मद (item) के साथ कैसे अन्य मदों का प्रयोग हो सकता है। जैसे 'हंसना' के साथ 'पड़ना' सहायक क्रिया का प्रयोग हो सकता है (जैसे, वह हंस पड़ा), लेकिन 'सोना' के साथ नहीं (वह सो पड़ा)।

55. जैसे 'अविवाहित' शब्द जिस संज्ञा के लिए प्रयुक्त होगा उसका 'सजीव' और 'मानव' होना जरूरी है। इसके अन्तर्गत 'विवाह' 'विवाहित' और 'अविवाहित' शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध भी बताये जायेंगे। चॉम्स्की ने इन्हें "संश्लिष्ट संकेत" (complex symbols) का नाम दिया।

56. जैसा कि चॉम्स्की (1977a : 170) ने स्वयं स्वीकार किया है मानक सिद्धान्त में 'गहन संरचना' को अतिनिर्धारित (over-determined) कर दिया गया था।

57. इसकी विस्तृत जानकारी के लिए देखिये न्यूमायर (1980).

58. जैकनडफ़ (1971, 1972) ने यह दावा किया कि यद्यपि (ख) और (ग) दोनों (क) के बाह्यरूप हैं दोनों के अर्थ में अन्तर है; (ख) पूरे वाक्य (या उसकी प्रतिज्ञप्ति) का निषेध है और (ग) सिर्फ़ क्रियापद का निषेध।

    क. [Not (Many arrows hit the target)].
    ख. Not many arrows hit the target.
    ग. Many arrows didn't hit the target.

59. इसमें और भी कई पेचीदी बातें हैं जिन्हें विस्तार के भय से यहां छोड़ दिया गया है।

60. चॉम्स्की (1965) के अर्थ में "गहन संरचना" की प्राक्कल्पना की अपर्याप्तता पर लेकफ़ और रॉस (1976) देखिये। यह निबन्ध 1967 से ही प्रसारित था।

61. विषयगत सम्बन्धों की धारणा को जैकनडफ़ (1972) ने विस्तृत रूप से पेश किया। ऐसा फ़िलमोर (1968) की इस आलोचना के उत्तर में किया गया कि मानक सिद्धान्त में क्रिया और नामपद के सम्बन्धों की अवहेलना की गयी है। फ़िलमोर ने

अपने निबन्धों में व्याकरण में कारक की महत्त्वपूर्ण भूमिका का विश्लेषण किया, लेकिन इस विश्लेषण में वाक्यविन्यास की जगह अर्थ की प्रमुखता थी। इसीलिए चॉम्स्की ने कारक के स्थान पर विषयगत सम्बन्ध को प्रश्रय दिया। लेकिन अब वे मानते हैं कि दोनों के अन्तर को स्पष्ट करना कठिन है। देखिये चॉम्स्की (1981) का पहला अध्याय।

62. इस सम्बन्ध में चॉम्स्की के तर्कों को जानने के लिए देखिये चॉम्स्की (1970a).

63. स्मरणीय है कि प्रजनक वैयाकरणों ने शब्दरूप प्रक्रिया (morphology) के व्युत्पादी (derivational) पक्ष को भी रूपस्वनिमिक लेखन नियम में आत्मसात कर दिया था। चॉम्स्की (1970a) से प्रेरित होकर ऐरोनॉफ (1976) जैसे भाषावैज्ञानिकों ने शब्दगठन के नियमों पर स्वतंत्र रूप से काम करना शुरू किया।

64. इस तरह के तर्क के प्रमाण फ्रिडिन (1975) और ब्रेजनन (1978) हैं। चॉम्स्की (1977 : 159-162) ने भी आंशिक रूप से उनके इस प्रस्ताव का समर्थन किया है कि अंग्रेजी में कर्मवाच्य क्रिया का रूपप्रक्रियात्मक तत्व है। इस तरह के विश्लेषण की त्रुटियों को समझने के लिए सिन्हा (1979) का पांचवां अध्याय देखिये।

65. इस धारणा की विस्तृत व्याख्या के लिए चॉम्स्की (1973a, 1975b,c) देखिये।

66. उद्देश्य की पारिभाषिक विविधता के लिए देखिये कीनन (1976).

67. मसलन अंग्रेजी के वाक्य (क) को ले लीजिए जो द्विअर्थक है; एक अर्थ में who शब्द चनने वाले के लिए है और दूसरे अर्थ में उसके लिए जिसे चुनना है। अतः इसे दो अलग-अलग वाक्यों (ख) और (ग) से प्रजनित किया जायेगा। चॉम्स्की (1977b : 75-76) ने यह तर्क दिया कि यद्यपि दोनों वाक्यों में संचालन नियम लगाने पर एक ही वाक्य प्रजनित होता है, हमें उसके अर्थ निर्धारण में कठिनाई नहीं होती क्योंकि संचालन के बाद भी पहले के स्थान पर अपदस्थ तत्व का अवशेष रह जाता है। जैसे (घ) और (च) में क्रमशः (ख) और (ग) के who का अवशेष t रह गया है।

क. Who do you want to choose ?

ख. You want who to choose.

ग. You want to choose who.

घ. Who do you want t to choose ?

च. Who do you want to choose t ?

68. उदाहरण के लिए इन विषयों पर मैकाले (1968a, b, c, 1970b) को देखिये और उनकी तुलना लाइटफुट (1980) से कीजिये। लाइटफुट ने यह स्पष्ट दावा किया है कि अवशेष का सिद्धान्त पोस्टल (1971) की पारगामी समस्याओं (crossover phenomena) का ज्यादा अच्छा विश्लेषण दे सकता है।

69. देखिये चॉम्स्की (1975b : 82)।

70. उदाहरण के लिए मैकाले (1980) ने वाक्य संरचना को अर्थपरक और वाक्यविन्यास के संयोजक तत्वों (combinatories) के रूप में बांटते हुए कहा है कि जहां तक सही प्ररूप संयोजन का प्रश्न है उसे बाह्य स्तर पर निर्गत बाध्यताओं के द्वारा हल किया जा सकता है।

71. व्याकरण में निस्यंदक (फिल्टर) की भूमिका को समझने के लिए देखिये चॉम्स्की और लाज़्निक (1977)।

72. अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में चॉम्स्की ने वाक्यसंरचना को ही भाषायी क्षमता का मुख्य अंग माना है; शेष बातें भाषायी निष्पादन के अंग हैं जिनमें उनकी दिलचस्पी नहीं है। लेकिन हाल के निबन्धों (जैसे, चॉम्स्की 1978) में उन्होंने भाषा के उपयुक्त प्रयोग को भाषा भाषी के प्रैग्मैटिक (pragmatic) क्षमता का मुख्य अंग माना है और इसके अलग से अध्ययन के महत्त्व को स्वीकार किया है। स्पष्ट है कि भाषा के प्रयोग के परिवेश का अध्ययन सर्वव्यापक व्याकरण का लक्ष्य नहीं हो सकता।

73. इस बात को विस्तार से समझने के लिए चॉम्स्की (1973b) का सातवां अध्याय देखिये।

74. देखिये चॉम्स्की (1969c) में उन विद्वानों की आलोचना जो 'तटस्थ विद्वता' के नाम पर अमरीकी शासकवर्ग के सिद्धान्तों का (मूक) समर्थन करते हैं। अमरीकी बुद्धिजीवियों की और तीव्र आलोचना के लिए चॉम्स्की (1977a : 3-42) को देखिये।

75. चॉम्स्की (1973b) के छठे अध्याय में 'संक्रान्ति काल में विश्वविद्यालय के दायित्व' पर उनका निबन्ध देखिये।

76. चॉम्स्की न केवल स्किनर के व्यवहारवाद के विरुद्ध हैं वरन् उनकी इस धारणा के भी कि मनुष्य का व्यवहार पुनर्बलन और आनुवंशिक निधि (genetic endowment) से निर्देशित होता है। वे ऐसे विचारों की तुलना पुलिस राज्य के कठोर नियमों से करते हैं जिसका डर सबको लगा रहता है।

77, यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जब हार्वर्ड विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानिक रिचर्ड हेरंस्टाइन ने ज्ञानार्जन और बुद्धिलब्धि (I.Q.) के सम्बन्ध में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया तो चॉम्स्की ने उसका जोरदार विरोध किया। (देखिये चॉम्स्की 1973b में भाषा और स्वतंत्रता पर उनका निबन्ध)।

78. दकार्ते से चॉम्स्की की वैचारिक समानता के लिए देखिए चॉम्स्की (1966)। रसेल के लिए देखिये चॉम्स्की (1971a)।

1

पाणिनि और उनकी अष्टाधायी

रमानाथ शर्मा

प्रस्तावना

प्राचीन ग्रंथों में व्याकरण के आठ-नौ संप्रदायों का उल्लेख मिलता है। इनमें पाणिनीय व्याकरण संप्रदाय को अन्यतम स्थान दिया जाता है। पाणिनि की अष्टाध्यायी इस संप्रदाय का आर्ष ग्रंथ है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, अष्टाध्यायी आठ अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं और प्रत्येक अध्याय अथवा पाद की सूत्र संख्या बराबर नहीं। आमतौर पर 32 पादोंवाली अष्टाध्यायी की समूची सूत्र-संख्या चार हजार के लगभग मानी जाती है। सूत्रों की बहुतेरी परिभाषाएं दी गयी हैं। सुविधा के लिए सूत्र हम ऐसे वक्तव्यों को कह सकते हैं जो संक्षिप्त, सारगर्भित और अर्थ की दृष्टि से असंदिग्ध हों। सूत्रीय संक्षिप्तता की शैली काफी हद तक बीजगणित जैसी है। संक्षिप्तता के आग्रह पर ही सूत्रों में प्रायः क्रियापदों का प्रयोग नहीं होता। शब्दों के चयन और प्रयोग में अनावश्यक विस्तार गर्हित माना जाता है। पतंजलि का दावा तो यह है कि अष्टाध्यायी के सूत्रों में प्रयुक्त एक वर्ण भी अनर्थक नहीं। सूत्र-रचना में आधी मात्रा की बचत करने पर पुत्रोत्सव मनानेवाले वैयाकरण भले ही सूत्रीय संक्षिप्तता के चलते उपहास के अधिकारी समझे जायें, अष्टाध्यायी की संक्षिप्तता तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक है। वैसे भी अर्थबोध की कसौटी पर खरा उतरकर ही सूत्र अपनी सार्थकता प्राप्त करता है।

कात्यायन ने पाणिनि के सूत्रों पर कुछ ऐसे व्यवस्थापरक वाक्य लिखे हैं जिनमें सूत्रों में जो कुछ कहा गया है, जो कुछ नहीं कहा जा सका अथवा जो

कुछ नहीं कहा जाना चाहिए—इन बातों की व्यवस्थित चर्चा की गयी है। ये वाक्य ही वार्त्तिक के रूप में प्रसिद्ध हैं। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में पाणिनि के सूत्रों की सर्वांगीण व्याख्या करते हुए इन वार्त्तिकों का भी परीक्षण किया है। उन्होंने बहुतेरे वार्त्तिकों की आवश्यकता स्वीकार की है। बहुत से वार्त्तिक उनकी दृष्टि में आवश्यक नहीं हैं। इसी तरह बहुतेरे ऐसे भी वार्त्तिक हैं जिनके स्वरूप में कुछ काट-छांट का भी सुझाव दिया गया है। यहां यह स्मरणीय है कि कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों की रचना पाणिनि-सूत्रों में दोष ढूंढ़ने की दृष्टि से नहीं की। इसी तरह पतंजलि ने महाभाष्य की रचना करते समय यह लक्ष्य नहीं रखा कि कात्यायन के वार्त्तिकों में व्यक्त आलोचनाओं से पाणिनि की रक्षा की जाय। वस्तुतः महाभाष्य अष्टाध्यायी के सूत्रों के व्याख्यान का ही लक्ष्य रखता है। चूंकि व्याख्यान शंका, समाधान, उदाहरण, प्रत्युदाहरण और सूत्रार्थ के विभिन्न पक्षों की व्यवस्थित प्रस्तुति के बिना अधूरा ही रह जाता इसलिए वार्त्तिकों का विव़ेचन अनिवार्य हो गया।

पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन के काल के बारे में पर्याप्त मतभेद है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन आचार्यों के अपने वक्तव्य इस दिशा में कोई भी सहायता नहीं दे पाते। अष्टाध्यायी और सवार्त्तिक महाभाष्य के कुछ वक्तव्यों और उदाहरणों के आधार पर पाणिनि, पतंजलि और कात्यायन के काल निर्धारण के कई प्रयत्न किये गये हैं। सूत्र 4.1.49 'इंद्रवरुणभवशर्व··· आनुक्' एवं 2.1.70 'कुमारश्रमणादिभिः' से निष्पन्न यवनानी और कुमार-श्रमणा उदाहरणों के आधार पर यह अनुमान लगाया जाता है कि पाणिनि सिकंदर या बुद्ध के बाद हुए। यूनानी के तात्पर्य में प्रयुक्त यवन शब्द के आधार पर पाणिनि को सिकंदर के बाद का इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि यवनों से हमारे संपर्क के प्रमाण सिकंदर के पहले के भी हैं। इसी तरह बौद्ध भिक्षु के अर्थ में श्रमण शब्द को सीमित मानकर पाणिनि को बुद्ध के बाद का भी नहीं साबित किया जा सकता। श्रमण तो जैन संन्यासी अथवा संन्यासी मात्र भी हो सकता है। महाभाष्य में प्राप्त अष्टाध्यायी सूत्र 5.3.99 जीविकार्थे चापण्ये, 3.2.111 'अनद्यतने लङ्' और 3.2.123 'वर्तमाने लट्' के विवेचन और उदाहरणों के आधार पर पतंजलि के काल-निर्धारण का प्रयास किया गया है। सूत्र 5.3.99 से निष्पन्न 'शिव' जैसे शब्द उन मूर्तियों के लिए प्रयुक्त होते थे जिन्हें साथ लेकर संन्यासी भिक्षा करते थे। यह भी कहा जाता है कि मौर्य लोग इन मूर्तियों की चोरी सोने के लालच में करते थे। इसी आधार पर पतंजलि को चंद्रगुप्त मौर्य (315 ई० पू०) का परवर्त्ती मानने का प्रयास किया गया है।

यवनों द्वारा 'साकेत' और 'माध्यमिकों' के घेराव की घटना ऊपर के सूत्रों

और वार्त्तिकों के आधार पर पतंजलिकालीन ठहरायी जाती है। गोल्ड्स्टूकर (Goldstucker) 'यवन' से मेनाण्डेर (Menander), और वेबर (Weber) कनिष्क का अर्थ लेकर पतंजलि को 5 से 45 ई० के बीच का मानते हैं। 'माध्यमिक' शब्द से नागार्जुन (150 ई०) द्वारा स्थापित बौद्ध संप्रदाय का अर्थ लेकर कुछ लोगों ने पतंजलि को नागार्जुन का समकालीन भी मानने का आग्रह किया है। भंडारकर ने गोल्ड्सटूकर और वेबर के मतों का बहुत ही विश्वसनीय खंडन प्रस्तुत किया। इसी तरह पतंजलि को पुष्यमित्र के काल का भी मानने का आग्रह किया है। पर भारतीय इतिहास में कई पुष्यमित्र हुए हैं, इसलिए पतंजलि किस पुष्यमित्र के समकालीन थे, यह निर्णय करना कठिन हो जाता है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि बहुतेरे विद्वान् इन उदाहरणों को पतंजलि के अपने उदाहरण भी नहीं मानते। इस तरह उनसे ध्वनित सम-कालीनता की बात खटाई में पड़ जाती है। पतंजलि के एक अन्य उदाहरण 'शक यवनम्' के आधार पर उन्हें 2 ई० पू० का भी माना जाता है। इसी संदर्भ में कात्यायन-प्रयुक्त 'शाकपार्थिव' और 'देवानां प्रियः' उदाहरण की भी चर्चा की गयी है। इनसे विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकालने का प्रयत्न किया है कि कात्यायन अशोक (3री शती ई० पू०) के समकालीन थे। चूंकि पतंजलि ने कात्यायन के वार्त्तिकों का परीक्षण महाभाष्य में किया है, इसलिए पतंजलि, कात्यायन, और तदनुसार ही, अशोक के समकालीन अथवा परवर्त्ती हो जाते हैं।

उपर्युक्त विवरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि को ईसा पूर्व 6वीं शती से 1ली शती ई० पू० तक का ही माना जा सकता है। इस बात के कई ऐसे प्रमाण हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनि और कात्यायन की भाषा में ऐतिहासिक अंतर था। इस अंतर को ध्यान में रखते हुए पाणिनि और कात्यायन के काल में भी 150-200 वर्ष का अंतर अपेक्षित है। इसी प्रकार का न्यूनाधिक अंतर कात्यायन और पतंजलि के बीच भी मानना होगा। यदि यह अंतर 150 वर्ष का मान लिया जाय तो पाणिनि 600 ई० पू०, कात्यायन 450 ई० पू० जौर पतंजलि 300 ई० पू० के ठहरते हैं। पर यदि कात्यायन का काल 300 ई० पू० माना जाय तो पाणिनि 450 ई० पू० और पतंजलि 150 ई० पू० के ठहरते हैं।

पाणिनि को अधिकतर विद्वान पश्चिमोत्तर प्रदेश में शलातुर (वर्तमान लाहुर) का निवासी बताते हैं। इसी तरह महाभाष्य के 'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या' के आधार पर लोग कात्यायन को दाक्षिणात्य मानते हैं। पतंजलि को लोग प्रायः पाटलिपुत्र (पटना) के पूर्व देश का और विशेषकर उत्तर-पश्चिमी अवध क्षेत्र का निवासी मानते हैं। पतंजलि के एक तथाकथित

नाम (?) गोनर्दीय से यह अटकल लगाने की असफल कोशिश भी की गयी है कि पतंजलि गोनर्द (वर्तमान गोंडा) के निवासी थे। पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि संबंधी इन विवेचनों से यह निष्कर्ष निकालना बहुत आसान है कि मुनित्रय के देश-काल का निर्णय बहुत संदेहास्पद एवं कठिन है। ऊपर के विवरणों में मूलतः कार्डेना (1974 : 260-70) और अंशतः मीमांसक (1972 : 178-205) का आधार लिया गया है। विस्तार के लिए पाठक इन ग्रंथों को देख सकते हैं। वैसे पंडित युधिष्ठिर मीमांसक ने भारतीय कालगणना के सिद्धांत एवं अन्य तर्कों के आधार पर पाणिनि के काल को और भी पीछे ले जाने का बड़ा ही सटीक प्रयास किया है। स्थानाभाव के कारण हम उसका विवेचन यहां नहीं कर सकते। विद्वानों को मीमांसकजी के तर्कों का समुचित परीक्षण करना चाहिए।

योरप में भारतीय वैयाकरणिक परंपरा का गंभीर अध्ययन 19वीं शताब्दी में ही हुआ। वेबर (Weber), गोल्ड्सटूकर (Goldstucker), बोतलिंक (Böhtlingk), भंडारकर (Bhandarkar), कीलहार्न (Kielhorn) तथा ह्विटनी (Whitney) के नाम इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। इस अरसे के अध्ययनों में अष्टाध्यायी से अधिक ध्यान महाभाष्य ने आकृष्ट किया। विवाद के प्रमुख मुद्दों में पाणिनि की भाषा, पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के देश-काल, उनके परस्पर संबंध, विवेच्य विषय और भाषा-शैली थे। वेबर और गोल्ड्सटूकर के बहुतेरे आक्षेपों और भ्रमपूर्ण निष्कर्षों के विश्वसनीय खंडन का श्रेय रामकृष्ण गोपाल भंडारकर को है। कीलहार्न ने न केवल महाभाष्य का व्यवस्थित संस्करण ही प्रस्तुत किया, अपितु महाभाष्य की शैली और उसकी तकनीकों का अष्टाध्यायी की कार्यप्रक्रिया के साथ तादात्म्य भी स्थापित किया। भंडारकर और कीलहार्न को छोड़कर अन्य विद्वानों में जहां संस्कृत व्याकरण परंपरा के गंभीर अध्ययन का अभाव था वहीं परंपरा के प्रति सहानुभूति की भी कमी थी। दोषान्वेषण की पराकाष्ठा हमें विलियम ड्वाइट ह्विटनी में मिलती है। ह्विटनी काफी समझदार थे पर पाणिनि और भारतीय व्याकरण में किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की बात स्वीकार कर पाना उनके लिए असंभव था। बीसवीं शती के अध्ययन काफी हद तक वस्तुपरक और भाषावैज्ञानिक हैं। इस शती के पूर्वार्द्ध में ब्लूमफील्ड (Bloomfield), फैडेगन (Faddegon) और ब्यूस्कोल (Buiskool) के अध्ययन विशेष उल्लेखनीय हैं। ब्लूमफील्ड इस खेवे के सर्वश्रेष्ठ भाषावैज्ञानिक थे। अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'लैंग्वेज' में उन्होंने अष्टाध्यायी को 'मानवमेधा का सर्वोच्च स्मारक' कहा है। उनकी मान्यता यह भी है कि किसी भी भाषा के अब तक लिखे गये व्याकरणों में 'अष्टाध्यायी' ही सबसे व्यवस्थित और पूर्ण है। ब्लूमफील्ड के विचारों का

समर्थन इस शती के उत्तरार्द्ध के प्रायः सभी विद्वानों ने किया है।

सन् 1955 के बाद से पाश्चात्य भाषाविज्ञान में रचनांतरण-प्रजनक व्याकरण (Transformational-Generative Grammar) के अंतर्गत भाषाविज्ञान की जिन सैद्धांतिक स्थापनाओं का विकास हुआ उनके संदर्भ में अष्टाध्यायी के अनुशीलन को एक नयी दिशा मिली। पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों को पाणिनि की सैद्धांतिक संभावनाओं से परिचित कराने का श्रेय फ्रिट्स स्टाल (Fritz Staal) को है जिन्होंने अपने कई निबंधों में अष्टाध्यायी के सैद्धांतिक पक्ष पर प्रकाश डाला। सन् 1960 के बाद पाणिनीय सिद्धांतों के व्यवस्थित विश्लेषण और मूल्यांकन का क्रम प्रारंभ हुआ जिसमें कई भारतीय और विदेशी भाषावैज्ञानिकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिकाएं निभायीं। जार्ज कार्डोना (George Cardona) का नाम इनमें वहुत आदर के साथ लिया जाता है। कार्डोना उन गिने-चुने भाषावैज्ञानिकों में हैं जिन्होंने न केवल भारतीय शास्त्रीय परंपरा का गंभीर अध्ययन किया है अपितु पारंपरिक मान्यताओं को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में सहानुभूतिपूर्वक परखा है। पाणिनि पर किये जा रहे अधुनातम शोधों का एक लक्ष्य यह भी है कि आधुनिक सैद्धांतिक भाषाविज्ञान जिन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का हल ढूंढ़ रहा है, क्या वैसे प्रश्न पाणिनि के सामने भी थे और अगर थे तो पाणिनि ने उनके जो हल दिये उनसे अपनी समस्याओं के समाधान की दिशा में आधुनिक भाषावैज्ञानिक क्या सीख सकते हैं?

यहां दो-एक बातों की ओर ध्यान दिलाना भी आवश्यक है। पहली बात यह कि अभी भी पाणिनि की भाषावैज्ञानिक प्रतिभा का व्यवस्थित परिचय, विश्लेषण और मूल्यांकन की अनेक संभावनाएं अछूती पड़ी हुई हैं। दूसरी यह कि भारत ही नहीं विदेशों में भी बहुतेरे ऐसे लोग हैं जो पाणिनि, पतंजलि और भर्तृहरि की अनूठी प्रतिभाओं का महत्त्व स्वीकारते हुए उनका परिचय कुछ इस प्रकार देते हैं कि पाठक एक ओर इनकी महानता से अभिभूत हो जाता है तो दूसरी ओर इस महानता के मूल में निहित उपलब्धियों के वास्तविक स्वरूप से उसका कोई परिचय नहीं हो पाता। आज आवश्यकता इस बात की है कि वाग्जाल और गगनचुंबी विशेषणों का मुखौटा उतारकर पाणिनि और भारतीय भाषावैज्ञानिक उपलब्धियों का वस्तुपरक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय। अंत में यह भी ध्यातव्य है कि भारतीय परंपरा पाणिनि को अप्रतिम वैयाकरण मानती है। इस आकलन से मेरा कोई विरोध नहीं, पर इसके साथ कुछ कठिनाइयां भी हैं। उदाहरण के लिए पाणिनि की संस्कृत भाषा का अप्रतिम वैयाकरण मात्र मानने पर उनकी भाषावैज्ञानिक प्रतिभा की सही पहचान नहीं हो सकती। वस्तुतः पाणिनि अप्रतिम मेधावाले एक ऐसे युगांतरकारी भाषावैज्ञानिक थे जिन्होंने अपनी अष्टाध्यायी के माध्यम से प्राचीन

भारतीय भाषाचिंतन को व्यवस्थित रूप दिया। यह पाणिनि की अतुलनीय भाषावैज्ञानिक प्रतिभा का ही चमत्कार था कि विगत ढाई हजार वर्षों का पारंपरिक भाषाचिंतन अभी भी अष्टाध्यायी को केंद्र मानकर चलता है। साथ ही इसी चामत्कारिक प्रतिभा को यह श्रेय है कि आज का भाषावैज्ञानिक अपनी अनेक सैद्धांतिक गुत्थियों के हल के लिए उसकी ओर आदरभरी दृष्टि से उन्मुख है। पाणिनि की प्रस्तुति को 'परवर्स' (Perverse) और 'वेस्टेड' (Wasted) की संज्ञा देनेवाले ह्विटनी यदि आज जीवित होते तो उन्हें अच्छी तरह ज्ञात हो जाता कि पाणिनि की प्रतिभा मात्र 'चामत्कारिक' थी।

प्रस्तुत निबंध में यह प्रयास किया जायेगा कि भाषाविज्ञान के अध्येताओं को भारतीय भाषाचिंतन में अष्टाध्यायी, उसका स्वरूप और उसके आधारभूत भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों का संक्षिप्त, पर व्यवस्थित परिचय दिया जा सके। यद्यपि इस विवेचन की दृष्टि भाषावैज्ञानिक है पर इसका आधार संस्कृत व्याकरण की परंपरा को ही रखा गया है। प्रयत्न यह भी किया गया है कि पाणिनि को दूसरों के चश्मे से न देखकर पाणिनि के रूप में ही प्रस्तुत किया जाय, यद्यपि कहीं-कहीं आधुनिक भाषाविज्ञान के कुछ प्रसंगों से तुलना अपरिहार्य हो जायेगी।

1. व्याकरण का स्वरूप

आधुनिक दृष्टिवाले भाषावैज्ञानिकों ने इधर हाल में ही अष्टाध्यायी को 'व्याकरण और व्याकरणिक नियमों' के सिद्धांत पक्ष की दृष्टि से परखने का काफी प्रयास किया है। पाणिनि ने स्वयं इस बारे में कोई वक्तव्य नहीं दिया है। हां, पतंजलिकृत महाभाष्य और परंपरा के बादवाले ग्रंथों में इन प्रश्नों की विशद चर्चा उपलब्ध है। यहां मैं परंपरा और विशेषत: महाभाष्य, की दृष्टि से 'व्याकरण और व्याकरणिक नियमों के स्वरूप' पर विचार करूंगा। इसके बाद इस बात पर विचार किया जायेगा कि व्याकरणिक संसार के रूप में अष्टाध्यायी की कार्यप्रक्रिया क्या है। इस संदर्भ में यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मैं अष्टाध्यायी को सीमित संख्यावाले व्याकरणिक नियमों का एक ऐसा संकलन मानता हूं जिसके माध्यम से संस्कृत के असीमित संख्यावाले शुद्ध वाक्यों का सही विवरण दिया जा सकता है। यद्यपि ये विचार चॉम्स्की (Chomsky) की स्थापनाओं के अनुरूप ही हैं, पर आगे यह स्पष्ट हो जायेगा कि पाणिनि और चॉम्स्की में तात्त्विक अंतर है।

पतंजलि व्याकरण को एक ऐसी व्यवस्था के रूप में देखते हैं जिसके माध्यम से लौकिक और वैदिक शब्दों का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त किया जा सके। किंतु यह ज्ञान कैसे प्राप्त किया जाये? क्या भाषा के प्रत्येक शब्द को क्रमश:

लेकर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाये और यह प्रक्रिया तब तक जारी रखी जाये जब तक भाषा की शब्दराशि समाप्त न हो जाये? इस प्रक्रिया को 'प्रतिपदपाठ' की संज्ञा दी गयी है।[1] पतंजलि शब्दज्ञान की इस प्रक्रिया को अनुपयुक्त मानते हैं। कारण यह है कि 'प्रतिपदपाठ' की प्रक्रिया द्वारा किसी भाषा की संपूर्ण शब्दराशि का ज्ञान प्राप्त करने में कई जन्म लेने पड़ेंगे और उस पर भी सफलता नहीं मिल पायेगी। कहा भी जाता है कि बृहस्पति ने इंद्र के शब्दज्ञान के लिए देवताओं के एक हजार वर्ष तक 'प्रतिपदपाठ' किया और तब भी अंत नहीं मिला। आदमी की बिसात ही क्या! अगर कोई बहुत जियेगा तो सौ वर्ष जियेगा।[2] पतंजलि का कहना है कि शब्दों के व्यवस्थित ज्ञान के लिए 'सामान्य' और 'विशेष' के सिद्धांत पर व्याकरण के कुछ नियमों की रचना करनी चाहिए। इस आधार पर रचित नियमों से थोड़े ही प्रयास से शब्दों के विशाल सागर की थाह प्राप्त की जा सकती है।[3] इस संदर्भ में सिद्धांत यह होना चाहिए कि सामान्य भाषिक प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करनेवाले व्याकरणिक नियम सामान्य रूप से लागू होनेवाले हों और उनका व्यवहार संबद्ध अपवादों का प्रतिनिधित्व करनेवाले विशेष नियमों के संदर्भ को छोड़कर ही किया जाये। नियमों के इस सामान्यीकरण का आधार लोक प्रयुक्त भाषा का स्वरूप ही होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि व्याकरण को अपने नियमों की रचना के लिए लोक व्यवहार को ही मापदंड के रूप में मानना चाहिए। पतंजलि लोक-व्यवहार में 'शिष्टों' को प्रमाण मानते हैं। 'शिष्ट' की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि 'इस आर्यावर्त्त देश में रहनेवाले वे ब्राह्मण शिष्ट समझे जायें जिनके पास संपत्ति के नाम पर मात्र एक हांडी धान हो, जो लोलुप न हों, और जो बिना किसी विशेष कारण के किसी शास्त्र में पारंगत हो चुके हों—ऐसे ही पूज्य ब्राह्मण शिष्ट हैं'।[4] शिष्टजनों की इस परिभाषा में मूलत: आर्यावर्त्त में निवास और विशिष्ट आचार को महत्त्व दिया गया है। ये ऐसे मापदंड हैं जिन्हें बहुतेरे भाषाचिंतक अभाषावैज्ञानिक करार दे सकते हैं। संक्षेप में, अष्टाध्यायी व्याकरणिक नियमों का एक ऐसा व्यवस्थित संकलन है जिसका आधार लोक-व्यवहार को मापदंड मानकर किया गया सामान्यीकरण ही है।

भाषा वाक्यों का समूह है और व्याकरण शब्दानुशासन। पतंजलि के साक्ष्य पर यदि मान लिया जाये कि व्याकरण शब्दों का अन्वाख्यान करता है तो उससे वाक्यों का विवरण कैसे प्राप्त किया जा सकता है। पतंजलि जानते हैं कि भाषा वाक्यों का संकलन है फिर भी उनके अनुसार व्याकरण शब्दों का ही विवरण प्रस्तुत करता है। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जायेगा, इसका कारण मात्र सुविधा और विश्लेषण की विशिष्ट पद्धति ही है। नागेश[5] भी कहते हैं

कि प्रत्येक वाक्य में अंतर्हित अभिसंबंधों और उनकी व्यक्तिगत विशिष्टताओं का आकलन पृथक् रूप से करना असंभव प्रतीत होता है। इसलिए विश्लेषण की कोई दूसरी प्रक्रिया ढूंढ़नी चाहिए। यह प्रक्रिया प्रत्येक वाक्य के घटक शब्दों को पृथक कर उनका विश्लेषण, प्रकृति और प्रत्यय की दृष्टि से करने की कल्पना पर आधारित है। इसके मूल में 'अन्वय' और 'व्यतिरेक' का सिद्धांत काम करता है। नागेश यह कहना नहीं भूलते कि वाक्य के घटक शब्दों में, प्रकृति-प्रत्यय विभाग मात्र कल्पना है, इसका श्रेय शास्त्र (व्याकरण) है और व्याकरण शास्त्र के बाहर इसका अस्तित्व नहीं स्वीकार करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि व्याकरण वाक्यों का विश्लेषण करता है पर शब्द-विश्लेषण की प्रकृति-प्रत्यय पर आधारित विश्लेषण प्रक्रिया को हथियार के रूप में इस्तेमाल करके ही।

संक्षेप में,

(1) व्याकरण ऐसे सीमित संख्यावाले नियमों का संकलन है जिनकी रचना भाषिक लोक-व्यवहार को मूल मानकर किये गये सामान्यीकरण पर आधारित है।

(2) व्याकरण का प्रकार्य भाषा के शुद्ध वाक्यों का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करना है कि कुछ ही नियमों के आधार पर असीमित संख्यावाले वाक्यों का विश्लेषण संभव हो सके।

(3) अष्टाध्यायी इन दोनों ही विशिष्टताओं से युक्त है। इसके साथ ही साथ यह शिष्टजनों की भाषा को लोक-व्यवहार का आदर्श मानती है।

(4) इसकी विश्लेषण पद्धति में पहले वाक्य घटकों को पृथक् किया जाता है और फिर प्रकृति-प्रत्यय की 'अन्वय' एवं 'व्यतिरेक' के सिद्धांत पर आधारित पद्धति द्वारा शब्दों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है। प्रकृति-प्रत्यय विभाग वैयाकरणों की कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

यह बताया जा चुका है कि अष्टाध्यायी संस्कृत के शुद्ध वाक्यों का विवरण प्रस्तुत करती है। सैद्धांतिक भाषाविज्ञान में रुचि रखनेवाले लोगों के लिए यह सूचना उपयोगी होगी कि संस्कृत वैयाकरण भी भाषिक प्रयोगों के संदर्भ में 'व्याकरणिकता' (Grammaticality) और 'ग्राह्यता' (Acceptability) के प्रश्नों से परिचित हैं। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक हो जाता है कि संस्कृत वैयाकरण भाषा प्रयोक्ता के प्रातिभज्ञान (Intuition) को बहुत महत्त्व नहीं देते। उनके लिए लोक-व्यवहार और विवक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। विवक्षा की बात कारकों के संदर्भ में आगे स्पष्ट की जायेगी। चॉम्स्की के

Colorless green ideas sleep furiously 'रंगरहित हरे विचार आक्रोश भरे सो रहे हैं'[6] के वजन पर संस्कृत व्याकरण साहित्य में भी बहुतेरे उदाहरण उपलब्ध हैं—

एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः।
कूर्मक्षीरचये स्नातः शशशृंगधनुर्धरः॥

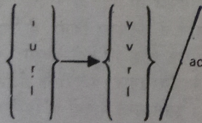
"यह देखो कछुए के दूध से नहाकर सिर पर आकाश कुसुम लगाये खरगोश के सींग से बना धनुष लिए बांझ का बेटा जा रहा है।"

इस तरह के वाक्य व्याकरणिक दृष्टि से शुद्ध हैं यद्यपि अर्थ की दृष्टि से अजीब लगते हैं। यही कारण है कि इन्हें सामान्य भाषिक प्रयोग से परे माना जाता है। अर्थगत विसंगति के बावजूद भी व्याकरण इन वाक्यों के उत्पादन में सक्षम है क्योंकि भले ही ये वाक्य लोक-व्यवहार से परे हों, इनकी कल्पना तो की ही जा सकती है। चूंकि संस्कृत वैयाकरण प्रयोक्ता के प्रातिभज्ञान को महत्त्व नहीं देते, उनके लिए यह आवश्यक नहीं कि वे अर्थगत विसंगतियों की गहराई में जायें। शिष्टजनों के भाषा-प्रयोग को सर्वाधिक महत्त्व देने के कारण 'व्याकरणिकता' संबंधी उनकी धारणा बड़ी ठोस है, उसमें लचीलेपन की कोई गुंजाइश नहीं।

पाणिनीय व्याकरणिक संधार शब्द को प्रजनक इकाई मानकर वाक्यों की निष्पत्ति प्रस्तुत करता है। इससे कुछ लोगों की यह धारणा बन सकती है कि अष्टाध्यायी का व्याकरणिक संधार रूपविज्ञान (Morphology) पर आधारित विवरणात्मक प्रकृतिवाला है। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि पाणिनि में वाक्यविज्ञान (Syntax) का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर के साथ ही पाणिनि की वाक्य निष्पादन-क्षमता की संकल्पना भी जुड़ी हुई है। मैंने कहा है कि अष्टाध्यायी शब्द-विश्लेषण को वाक्य-विश्लेषण के लिए हथियार के रूप में प्रयुक्त करती है। पाणिनि फिर सीधे वाक्यों की निष्पत्ति ही क्यों नहीं करते? मेरे विचार में पाणिनि की नीति इस बारे में बहुत स्पष्ट है। सीधे वाक्यविश्लेषण करने की बात उन्हें आकृष्ट नहीं कर पाती क्योंकि वाक्यों का व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करने में वाक्य-घटकों अर्थात् शब्दों के बारे में भी पूरी जानकारी देनी आवश्यक होगी। वाक्यों के सीधे विश्लेषण में लाघव (Economy) नहीं आ पायेगा। साथ-ही-साथ वाक्य विश्लेषण का प्रयास सफल भी नहीं हो पायेगा क्योंकि शब्द-विश्लेषण की जिस प्रक्रिया का पाणिनि ने अनुसरण किया है उसकी तुलना में वाक्य-विश्लेषण का प्रयास कुछ अधिक जोड़ भी नहीं सकता। ऐसा कहने का कारण यह है कि पाणिनि शब्दों का विश्लेषण वाक्यों के सैद्धांतिक ढांचे को आधार बनाकर ही प्रस्तुत करते हैं। इससे उन्हें वाक्यों के विश्लेषण की क्षमता प्राप्त

हो जाती है यद्यपि उनकी विश्लेषण प्रक्रिया का सीधा लक्ष्य शब्द ही है ।

अष्टाध्यायी के सूत्रों और भाषावैज्ञानिक नियमों अथवा 'रूल' (Rule) में पर्याप्त अंतर है । भाषावैज्ञानिक 'रूल' अपने आप में प्रायः स्वतंत्र और पूर्ण होता है । दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि 'रूल' अपनी व्याख्या, अर्थनिर्धारण और प्रकार्य के लिए प्रायः किसी अन्य 'रूल' की अपेक्षा नहीं करता । इसके विपरीत अष्टाध्यायी के सूत्रों में अंतरावलंबन अपरिहार्य है । यही कारण है कि किसी एक सूत्र के अर्थनिर्धारण और प्रयोग के लिए कई सूत्रों की सहायता लेनी पड़ जाती है । उदाहरण के लिए सूत्र 6.1.77 'इको यणऽचि' को ही लीजिए । इसमें तीन पद हैं : इकः, यण्, और अचि । मोटे तौर पर इसका अर्थ है : इक् के स्थान में यण् हो यदि अच् परे रहे । सूत्र के तीन पदों से ही यह अर्थ नहीं निकल सकता यदि सूत्र 1.1.49 'षष्ठी स्थानेयोगा' और 1.1.66 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'—इन दो सूत्रों को सहायतार्थ न लाया जाय । इकः में षष्ठी विभक्ति है और अचि में सप्तमी । ये ही वे लक्षण हैं जो 1.1.49 और 1.1.66 को 6.1.77 के निकट लाते हैं । इक् स्थानी है जिसके स्थान पर यण् आदेश के रूप में आता है अगर अच् बाद में हो । इक्, यण् और अच् तीनों ही प्रत्याहार हैं । इक् से इ, उ, ऋ, लृ का, यण् से य्, व्, र्, ल् का और अच् से समस्त स्वरों का बोध होता है । पर यह सूचना बिना शिवसूत्रों और उनसे प्रत्याहार बनानेवाले सूत्रों की सहायता के संभव नहीं । विशेषतः सूत्र 1.1.71 'आदिरन्त्येन सहेता' तो अत्यावश्यक है । इसी के साथ प्रश्न यह भी उठता है कि इ, उ, ऋ, लृ में किसका आदेश य्, व्, र्, ल् में कौन हो और क्यों ? इसके समाधान के लिए 1.3.10 'यथा-संख्यमनुदेशः समानाम्' की शरण लेनी पडेगी । अब आप देख चुके कि एक सूत्र का अर्थ समझने के लिए चार प्रत्याहार सूत्रों और चार अष्टाध्यायी सूत्रों की सहायता लेनी पड़ी । इतना ही नहीं, कुछ अन्य भी सूत्र हैं जिनकी चर्चा यहां नहीं की जा रही । अष्टाध्यायी सूत्रों में अंतरावलंबन की विवशता ही उन्हें 'रूल' से पृथक करती है । इस पृथकता के कारण ही सूत्रों को 'रूल' के रूप में लिखना बहुत कठिन है । 'रूल' के रूप में 6.1.77 को कुछ इस प्रकार लिखा जाएगा :



स्पष्ट है कि यह 'रूल' 'इको यणचि' के मंतव्य को मोटे तौर पर ही प्रति-निधित्व दे पाता है । बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिन्हें इस 'रूल' का अंग बनाने में 'रूल' ही नहीं अपितु इस 'रूल' को आत्मसात् करनेवाले व्याकरण का स्वरूप भी बदलना होगा । सूत्रीय अंतरावलंबन के जिस प्रसंग की चर्चा 6.1.77 'इको यणऽचि' के संदर्भ में की गयी है उसमें संबद्ध सूत्र भिन्नस्थानीय हैं । इस संदर्भ में यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि यदि सूत्र परस्पर संबद्ध हैं और उनका एक स्थान पर पाया जाना आवश्यक नहीं तो व्याकरण की वह कौन-सी तक-नीक है जिसकी सहायता से संबद्ध सूत्र एक-दूसरे के निकट लाये जा सकेंगे । भिन्नस्थानीय सूत्रों को अपने संदर्भ स्थान पर लाने की प्रक्रिया का विस्तृत विवेचन मैंने 'संदर्भ श्रेणियों के पुनर्निर्माण' शीर्षक से अन्यत्र किया है ।[7] यहां उसकी संक्षिप्त चर्चा अनावश्यक न होगी ।

भिन्नस्थानीय सूत्रों में भी परस्पर संबद्धता होती है—इस बात का स्पष्ट संकेत पतंजलि ने दिया है । इसके पहले कि इन सूत्रों की एक स्थान पर लाने की प्रक्रिया का विवेचन किया जाय, अष्टाध्यायी के कुछ प्रमुख अधिकारों अथवा सूत्रगुच्छों की सूची अनिवार्य है । ये हैं :

(1) **संज्ञाधिकार** : अध्याय 1 जिसमें मुख्य संज्ञाओं और परिभाषाओं का परिगणन है;

(2) **प्रत्ययाधिकार** : अध्याय 3 से 5 तक के सूत्र जिनमें विभिन्न प्रकृतियों (Bases) के पश्चात् प्रत्ययों का विधान है;

(3) **अंगाधिकार** : अध्याय 6 के चौथे पाद से अध्याय 7 तक के सूत्र; और

(4) **पदाधिकार** : अध्याय 8 के द्वितीय पाद के 16वें सूत्र से अंत तक के सूत्र ।

अब मान लीजिए आपको 'देवदत्तः पचंति' की सिद्धि करनी है । इस वाक्य में देवदत्तः और पचति दो पद हैं जिनकी सिद्धि देवदत्त (प्रातिपदिक) और पच् (धातु) के पश्चात् क्रमशः सु एवं तिप् प्रत्ययों को लाकर की गयी है । देव-दत्त की प्रातिपदिक संज्ञा सूत्र 1.2.45 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (धातु-प्रत्यय-वर्जित अर्थवान् इकाइयों को प्रातिपदिक कहा जाता है) से और पच् की धातु संज्ञा सूत्र 1.3.1 'भूवादयो धातवः', (भू, इत्यादि को धातु कहा जाता है) से होती है । सु प्रत्यय का विधान 3.1.1 के प्रत्ययाधिकार में 4.1.1 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' के अधिकारवाले सूत्र 4.1.2 'स्वौजसमौट्···' से होता है । इसी तरह तिप् का विधान 3.1.1 के अधिकार में ही 3.1.91 'धातोः' के अंतर्गत 4.1.77-78 'लस्य तिप्त···' से होता है । तिप् प्रत्यय लट् के आदेश के रूप में ही आया है । पच्+तिप् के बाद सूत्र 3.1.68 से शप् आकर

पच्+शप्+तिप्→पच्+अ+ति=पचति बनता है। संदर्भ-श्रेणियों के पुनर्निर्माण को समझाने के लिए देवदत्तः और पचति के निष्पत्तिवृत्त को नीचे दिया जा रहा है :

(अ) देवदत्तः	(ब) पचति
(अ.1) देवदत्त→ 1.2.45	(ब.1) पच्→ 1.3.1
3.1.1	3.1.1
3.1.2	3.1.2
4.1.1	3.1.91
4.1.2	3.2.123
=देवदत्त+सु	3.4.77
→देवदत्त+स···	3.4.78
→देवदत्तः	3.4.113
	3.1.68
	=पच्+लट्
	→पच्+तिप्
	→पच्+शप्+तिप्
	→पच्+अ+ति
	→पचति

ऊपर के सभी सूत्र संज्ञा और प्रत्ययाधिकार के हैं। इस निष्पत्तिवृत्त के सूत्रों को देखकर एक साथ कई प्रश्न उठते हैं। उदाहरण के लिए :

(1) अष्टाध्यायी की निष्पत्ति-प्रक्रिया का आरंभ कैसे होता है ?

(2) सूत्र 1.2.45 या 1.3.1 के लगने के पश्चात् यह कैसे ज्ञात होगा कि आगे सूत्र कहां लगेंगे ?

(3) सूत्र 4.1.2 एक साथ 21 विभक्तियों का परिगणन करता है। प्रश्न यह उठता है कि इनमें से एक का चयन किस आधार पर कैसे किया जाये ?

(4) सूत्र 3.4.78 एक साथ 18 विभक्तियों का परिगणन लकारों के आदेश के रूप में करता है। सवाल वही है कि एक का चयन किस आधार पर कैसे हो ?

(5) पचति की सिद्धि में सूत्र 3.4.116 के बाद बहुत पीछे का सूत्र 3.1.68 लगता है। यह कैसे ज्ञात होगा कि 3.4.116 के बाद 3.1.68 लगेगा ?

इन प्रश्नों के उत्तर के रूप में कुछ ऐसी स्थापनाएं निश्चित करनी होंगी जिनका उपयोग संदर्भ-श्रेणियों की पुनर्निर्मिति में भी किया जा सकेगा। ये

स्थापनाएं निम्नलिखित हैं—

(6) अष्टाध्यायी की निष्पत्ति-प्रक्रिया का आरंभ मूलनिवेशों (Base input) के संज्ञाविधान के बाद ही होता है। मूलनिवेश दो हैं : धातु और प्रातिपदिक।

(7) संज्ञाविधान के बाद मूलनिवेशों को प्रत्ययाधिकार में भेज दिया जाता है। प्रत्ययाधिकार के जिस अधिकार सूत्र में मूलनिवेश की संज्ञा का प्रयोग हुआ हो उसी अधिकार में सूत्रों के लगने की संभावना होती है।

(8) जब भी कोई सूत्र किसी निवेश (Input) पर लागू हो तब उसके परिणाम का उस अधिकार की संज्ञाओं के अतिरिक्त संज्ञाधिकार की संज्ञाओं द्वारा परीक्षण अनिवार्य होगा। इस क्रम में जो संज्ञाएं लागू होंगी उनसे निष्पत्ति की अगली दिशा का संकेत मिलेगा।

(9) संज्ञाविधान के बाद प्रत्ययाधिकार अथवा अंग या पद के अधिकार में कौन सूत्र लगेंगे इसका संकेत संबद्ध संज्ञाएं ही देंगी।

इन स्थापनाओं का सीधा संबंध निष्पत्तिवृत्त के सूत्रों के क्रम से भी है। उदाहरणार्थ देवदत्त और पच् के संज्ञाविधान के बाद अष्टाध्यायी की निष्पत्ति प्रक्रिया सक्रिय हुई (स्थापना 6)। प्रत्ययाधिकार में इन दो मूलनिवेशों की प्रविष्टि (स्थापना 7) के बाद सूत्र 4.1.1 और 3.1.91 के अधिकार में सूत्र लगे क्योंकि इनके अधिकार सूत्रों में प्रातिपदिक और धातु संज्ञाएं (जो मूल निवेशों की संज्ञाएं हैं), प्रयुक्त हैं (स्थापना 7)। पच्+तिप् के तिप् को सूत्र 3.4.116 द्वारा सार्वधातुक संज्ञा का विधान (स्थापना 8) इसलिए हुआ है कि तिप्, तिङ् है। यह बताया जा चुका है कि संज्ञाविधान से निष्पत्ति की दिशा भी निर्धारित होती है। ऊपर यह प्रश्न उठाया गया है कि (देखिए प्रश्न 5) 3.4.116 के बाद पीछे का सूत्र 3.1.68 कैसे लगा। सूत्र 3.1.68 के लगने की शर्त सार्वधातुक संज्ञा से जुड़ी हुई है। इसीलिए 3.4.116 द्वारा संज्ञाविधान के बाद ही 3.1.68 कैसे लगा। अब आइए संदर्भ-श्रेणियों के पुनर्निर्माण-संबंधी प्रश्न 3 और 4 पर। इनका संबंध सुप् और तिङ् के चयन से है। संदर्भ-श्रेणियों से संबद्ध निम्नलिखित स्थापना सहायक होगी :

(10) जब किसी सूत्र में कोई भी पारिभाषिक शब्द अथवा भाषिक रूप आये तो यह आवश्यक हो जाता है कि उस शब्द अथवा रूप को स्पष्ट करनेवाले अथवा उनसे संबद्ध सूत्रों की क्रमबद्ध सूची तैयार की जाये। सूची तैयार करनेवाली प्रक्रिया संज्ञाधिकार से प्रारंभ होकर उस सूत्र पर समाप्त होती है जिसमें संबद्ध शब्द अथवा रूप का प्रयोग हुआ हो। यही क्रमबद्ध सूची संदर्भश्रेणी के नाम से

जानी जाती है। संदर्भश्रेणियां एक ओर संबद्ध सूत्रों के प्रयोग को सुकर बनाती हैं वही दूसरी ओर आगे कौन सूत्र लगेगा इसका भी संकेत देती हैं।

ऊपर की सिद्धियों में सुप् और तिङ् पारिभाषिक शब्द हैं। सूत्र 4.1.2 और 3.4.78 पर पहुंचते ही इनकी संदर्भश्रेणी का पुनर्निर्माण आवश्यक हो जायेगा--

(अ. 1) सुप् #	(ब. 1) तिप् #
	लट्
1.4.101 त्रीणि···	1.4.99 लः परस्मैपदम्
1.4.102 तान्येकवचन···	1.4.100 तङानावात्मनेपदम्
1.4.103 सुपः	1.4.101 तिङस्त्रीणि···
1.4.104 विभक्तिश्च	1.4.102 तान्येकवचन···
1.4.22 द्वयेकयोर्द्विवचनै···	1.4.104 विभक्तिश्च
2.3.46 प्रातिपदिकार्थ···	

सुप् की संदर्भश्रेणी के सूत्रों को जब 4.1.2 के निकट लाया गया तो ज्ञात हुआ कि सुप् विभक्ति हैं जिन्हें प्रथमा, द्वितीया, आदि के सात त्रिकों में परिगणित किया गया है। प्रत्येक त्रिक के भाषिक रूपों से क्रमशः एक, द्वि और बहुवचन का प्रतिनिधित्व होता है। इस तरह प्रथमा की तीन विभक्तियां सु, औ और जस् हैं। वचनों का संदर्भ 1.4.23-24 के सूत्रों को निकट लाता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि तीनों वचनों का प्रयोग क्यों, कैसे होता है। अंत में सूत्र 2.3.46 से यह स्पष्ट होता है कि प्रथमा विभक्ति का प्रयोग प्रातिपदिक के मूल अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए होता है। इसी प्रकार तिङ्, जिसका एक सदस्य तिप् है, की संदर्भश्रेणी से यह सूचना मिलती है कि 9-9 के दो भागों में विभक्त तिङ् को आत्मनेपद और परस्मैपद की संज्ञा दी जाती है। इनमें प्रत्येक त्रिक् प्रथम, मध्यम और उत्तम पुरुष में क्रमशः एक-, द्वि- और बहुवचन का प्रतिनिधित्व करते हैं। तिङ् की संदर्भश्रेणी से ही ये सारी सूचनाएं प्राप्त होती हैं। इस तरह संदर्भ-श्रेणियों के माध्यम से नाना-स्थल स्थित सूत्रों को एक-दूसरे के निकट लाया जाता है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी के सूत्रों का परिगणन सूत्रगुच्छों अथवा अधिकारों के रूप में किया है। एक सूत्रगुच्छ में कई अंतर्गुच्छ हो सकते हैं और इसी प्रकार अंतर्गुच्छों में कई प्रत्यंतर्गुच्छ। प्रत्येक गुच्छ, अंतर्गुच्छ अथवा प्रत्यंतर्गुच्छ का प्रथम सूत्र अधिकार सूत्र कहा जाता है। अष्टाध्यायी में सूत्रगुच्छों के महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि समूची अष्टाध्यायी के लगभग 4000 सूत्रों में दो तिहाई से भी अधिक मात्र तीन बड़े गुच्छों में ही सीमित हैं। अधिकार सूत्र अपने अधिकृत सूत्रों के साथ संयुक्त होकर उन्हें

अर्थपूर्ण बनाते हैं और स्वयं भी सार्थकता प्राप्त करते हैं। यही बात, सिद्धांत रूप में ही सही, अंतर्गुच्छ और प्रत्यंतर्गुच्छ के अधिकार सूत्रों पर भी लागू होती है। कुछ ऐसे भी सूत्र होते हैं जो किसी सूत्रगुच्छ का अंग होते हुए भी अंतर्गुच्छ या प्रत्यंतर्गुच्छ के अंग नहीं होते। ऐसे सूत्र अपने अधिकार सूत्रों के साथ संबद्ध होकर अधिकार के प्रकार्यात्मक संदर्भ का काम करते हैं।

अधिकार के साथ ही अनुवृत्ति की प्रक्रिया जुड़ी हुई है। यह प्रक्रिया सूत्रगुच्छों में ही काम करती है। इसके अनुसार किसी एक सूत्रगुच्छ के किसी भी सूत्र के लिए आवश्यक है कि वह अपने प्रत्यंतर्गुच्छ, अंतर्गुच्छ और गुच्छ के अधिकार सूत्र को अपने साथ जोड़े। इसी से उसका पूर्ण अर्थ ज्ञात हो सकता है। विवरण की सुविधा के लिए अधिकार सूत्रों की इस अनुवृत्ति को हम आधिकारिक अनुवृत्ति की संज्ञा देंगे। ये अनुवृत्तियां सामान्यतः समूचे अधिकार सूत्र की होती हैं। इसके अतिरिक्त एक और अनुवृत्ति है जिसे हम आंशिक अनुवृत्ति का नाम देंगे। इस अनुवृत्ति का संबंध किसी सूत्रगुच्छ के अधिकार सूत्रों से इतर सूत्रों से होता है। साथ ही यह अनुवृत्ति प्रायः पूरे सूत्र की न होकर सूत्रांश की होती है। इस तरह अनुवृत्ति की प्रक्रिया में किसी सूत्रगुच्छ के अगले सूत्र अपने पीछेवाले सूत्र, सूत्रांश अथवा अपने अधिकार सूत्र की अपने साथ उपस्थिति की अपेक्षा रखते हैं। इस प्रक्रिया से सूत्रों के कलेवर को संक्षिप्त रखने में सहायता मिलती है। अनुवृत्ति सूत्रसापेक्ष होने के साथ ही साथ अधोमुखी होती है अर्थात् नीचेवाले सूत्र ऊपरवाले सूत्रों या सूत्रांशों की अपेक्षा रखते हैं। जहां तक संबद्ध सूत्रों को एक स्थान पर लाने का प्रश्न है, अनुवृत्ति की प्रक्रिया इसे अधिकारों की सीमा में ही कर पाती है।

2. अष्टाध्यायी की सहायक सामग्री

अष्टाध्यायी के व्यवस्थित अध्ययन के लिए अत्यावश्यक सामग्री के रूप में कुछ ऐसे ग्रंथों का नाम लिया जाता है जिन्हें बहुतेरे विद्वान न तो अष्टाध्यायी का अंग और न ही पाणिनि-प्रणीत मानते हैं। यद्यपि इस बात से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि इस सामग्री के अभाव में अष्टाध्यायी का अध्ययन संभव नहीं। ऐसे ग्रंथों में (1) शिवसूत्र, (2) धातुपाठ, (3) गणपाठ, (4) उणादिसूत्र, और (5) फिट्सूत्र प्रमुख हैं। यहां विस्तार-भय से प्रथम तीन की ही संक्षिप्त चर्चा की जायेगी।

2.1 शिवसूत्र

शिवसूत्र 14 सूत्रों की एक ऐसी सूची है जिसमें प्रत्याहार-निर्माण की दृष्टि से संस्कृत ध्वनियों को एक विशेष क्रम में परिगणित किया गया है—

1. अ इ उ ण्
2. ऋ लृ क्
3. ए ओ ङ्
4. ऐ औ च्

5. ह य व र ट्
6. ल ण्
7. ञ म ङ ण न म्
8. झ भ ञ्
9. घ ढ ध ष्
10. ज ब ग ड द श्
11. ख फ छ ठ थ च ट त व्
12. क प य्
13. श ष स र्
14. ह ल्

इस सूची में प्रत्येक सूत्र के अंत में प्रयुक्त व्यंजन सूची के अंग नहीं हैं। संस्कृत वैयाकरण इन व्यंजन ध्वनियों को 'इत्' का नाम देते हैं। 'इत्' ध्वनियों का प्रयोग किसी भाषिक रूप के साथ किसी विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए किया जाता है। उद्देश्य-सिद्धि के बाद उनका लोप हो जाता है। इसी अर्थ में शिवसूत्रों की अन्त्य व्यंजन ध्वनियां ध्वनिसूची (वर्णसमाम्नाय) का अंग नहीं मानी जातीं। इसी तरह शिवसूत्रों में जो व्यंजन ध्वनियां हलंत (्)चिह्न से नहीं दिखायी गयी हैं, उनके स्वर भी सूची के अंग नहीं हैं। शिवसूत्रों में संकलित ध्वनियों और इत्संज्ञक वर्णों की सहायता से प्रत्याहार बनाने की विधि अष्टाध्यायी सूत्र 1.1.71 'आदिरन्त्येन सहेता' से स्पष्ट होती है। इसके अनुसार शिवसूत्रों में संगृहीत किसी भी पूर्व ध्वनि को यदि किसी भी उत्तरवर्त्ती इत्संज्ञक वर्ण के साथ संयुक्त कर दिया जाय तो निष्पन्न रूप एक प्रत्याहार होगा। उदाहरण के लिए शिवसूत्र 1 को ही लीजिए। यदि अ को ण् के साथ संयुक्त किया जाय तो अण् प्रत्याहार बनेगा। इसी तरह इण् और सिद्धांत रूप में ही सही, उण् प्रत्याहार निष्पन्न होंगे। उण् जैसा प्रत्याहार अनुपयोगी होगा क्योंकि प्रत्याहार अपनी प्रथम ध्वनि से लेकर इत्संज्ञक वर्ण के बीच में आनेवाली सभी ध्वनियों के बोधक होते हैं। इस तरह अण् से अ, इ,

उ; इण् से इ, उ, और उण् से उ का बोध होगा। उण् इसलिए अनुपयोगी होगा क्योंकि उससे उ का बोध कराने से तो अच्छा है कि सीधे उ का ही प्रयोग किया जाय। इस विवेचन से तीन निष्कर्ष निकलते हैं: (1) प्रत्याहार वर्ण-समाम्नाय में संगृहीत ध्वनियों को इत्संज्ञक वर्णों के साथ जोड़कर बननेवाले ऐसे फार्मूले हैं जो संक्षेप में प्रत्याहार की आदि ध्वनि से लेकर उसके अंत्य इत् के बीच पड़नेवाली इत् विहीन सभी ध्वनियों का बोध कराते हैं, (2) इत्संज्ञक ध्वनियों का प्रयोजन प्रत्याहारों की रचना में ही है, और (3) किसी एक ध्वनि के प्रयोग के लिए प्रत्याहार का प्रयोग व्यर्थ है।

ऊपर शिवसूत्रों की जो सूची दी गई है उसे एक कोष्ठक के अंतर्गत पुनः दो कोष्ठकों में विभक्त किया गया है। अब यदि शिवसूत्र 1 के अ को सूत्र 14 के इत्संज्ञक वर्ण ल के साथ संयुक्त कर अल् प्रत्याहार बनाया जाय तो उससे संस्कृत की समस्त ध्वनियों का बोध होगा। इसी प्रकार शिवसूत्र 1 के अ तथा 4 के च् से; तथा 5 के ह् तथा 14 के ल् से अच् तथा हल् दो प्रत्याहार निष्पन्न होंगे जिनसे क्रमशः संस्कृत की समस्त स्वर तथा व्यंजन ध्वनियों का बोध कराया जा सकेगा। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याहारों की रचनाविधि गणितीय पद्धति पर आधारित है। इस विधि से यों तो सैकड़ों प्रत्याहारों का निर्माण संभव है पर पाणिनि ने मात्र 41 प्रत्याहारों का ही प्रयोग किया है। शिवसूत्रों की ध्वनियों, उनके अनुबंधों, प्रत्याहारों और उनके मूल में अंतर्निहित सिद्धांतों के व्यवस्थित एवं अंतर्दृष्टिपूर्ण अध्ययन के लिए देखिए कार्डोना (1969)।

2.2 धातुपाठ

पाणिनि अपनी अष्टाध्यायी में धातुओं के गणों का निर्देश करते हुए विकरणों और उनके लोप आदि का विधान करते हैं। उदाहरण के लिए सूत्र 2.4.72 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' और 2.4.75 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' को लीजिए जो अदादि और जुहोत्यादि गण की धातुओं के पश्चात् आनेवाले शप् का लोप करते हैं। इसी प्रकार 3.1.69 'दिवादिभ्यः श्यन्', 3.1.73 'स्वादिभ्यः श्नुः', 3.1.77 'तुदादिभ्यः शः', 3.1.78 'रुधादिभ्यः श्नम्', 3.1.79 'तनादिकृञ्भ्यः उः' तथा 3.1.81 'क्र्यादिभ्योश्ना' सूत्रों को लीजिए जो दिवादि, स्वादि, तुदादि, रुधादि, तनादि तथा क्र्यादि गणों के अस्तित्व की सूचना देते हैं। सूत्र 3.1.25 सत्याप···चुरादिभ्यो णिच् तथा 3.1.27 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' सहित पिछले सूत्रों के साक्ष्य पर निम्नलिखित गणों का परिचय मिलता है:

(1) अदादि, (2) जुहोत्यादि, (3) दिवादि, (4) स्वादि, (5) तुदादि, (6) रुधादि, (7) तनादि, (8) क्र्यादि, (9) चुरादि और (10) कण्ड्वादि।

कण्ड्वादि गण में प्रातिपदिक हैं। इस तरह धातुओं के 9 गण रह जाते हैं पर सूत्र 1.3.1 'भूवादयो धातवः' के साक्ष्य पर 10वां गण भ्वादि निश्चित होता है। भ्वादि को पहले गण के रूप में स्वीकार किया जाता है। संस्कृत धातुगणों में संपूर्ण संख्या 1970 है। यथा : (1) स्वादि (1035), (2) अदादि (72), (3) जुहोत्यादि (24), (4) दिवादि (140), (5) स्वादि (35), (6) तुदादि (1>7), (7) रुधादि (25), (8) तनादि (10), (9) क्र्यादि (67) और (10) चुरादि (401)। यहां यह ध्यातव्य है कि संस्कृत धातुओं की संख्या धातुपाठ में परिगणित 1970 की संख्या से कहीं बहुत अधिक है।

पाणिनि ने धातुओं का निर्देश इतों के साथ किया है। कुछ इत् आत्मनेपद के प्रयोग का संकेत देते हैं। यथा 1.3.11 अनुदात्तङित आत्मनेपदम् और 1.3.72 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले'। अन्य इतों के भी अलग-अलग प्रकार्य हैं। उदाहरण के लिए 3.3.88 'ड्वितः क्त्रिः' तथा 3.3.89 'ट्वितोऽथुच्' को लीजिए जो क्रमशः क्त्रि और अथुच् प्रत्ययों का विधान उन धातुओं के बाद करते हैं जिनके साथ ड् तथा ट् का प्रयोग इत् के रूप में हुआ हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जब पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना की, उस समय उनके सामने धातुपाठ का कोई संग्रह अवश्य था। अब यह दूसरी बात है कि उन्होंने धातुपाठ की रचना स्वयं की, उसे परंपरा से प्राप्त किया अथवा किसी परंपरा प्राप्त संकलन में अपेक्षित सुधार कर उसका उपयोग किया। लगता यही है कि उन्होंने अपने धातुपाठ का व्यवस्थापन स्वयं किया क्योंकि धातुपाठ में जिस विशिष्ट रीति से धातुओं का परिगणन किया गया है उससे यह विश्वास करना कठिन लगता है कि पाणिनि को जैसे धातुपाठ की आवश्यकता थी ठीक वैसा ही परंपरा से उन्हें प्राप्त हो गया। अष्टाध्यायी में बहुतेरी ऐसी चीजें हैं जिन्हें परंपरा-प्राप्त कहा जा सकता है पर उसकी प्रस्तुति और कार्यप्रक्रिया पाणिनि की अपनी विशिष्टता है।

धातुपाठ में परिगणित धातुओं के साथ उनके अर्थ का भी निर्देश मिलता है। युधिष्ठिर मीमांसक ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है कि पाणिनि ने स्वयं धात्वर्थनिर्देश किया या नहीं। महाभाष्य में इस बात का प्रमाण मिलता है कि कम से कम कात्यायन धात्वर्थनिर्देश को पाणिनीय नहीं मानते। नागेश की मान्यता है कि अर्थनिर्देश किसी भीमसेन ने किया था। पलसुले ने इन प्रश्नों पर विशद विचार के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि धात्वर्थनिर्देश पाणिनिकृत नहीं। मीमांसकजी इस बात को स्वीकार नहीं करते। यदि इस बात पर न भी जायें कि पाणिनि ने धातुपाठ का पारायण अर्थ-सहित किया था तो भी एक अन्य तथ्य की चर्चा आवश्यक है। धातुपाठ में कई ऐसी धातुएं हैं जिनका परिगणन कई गणों में मिलता है। उदाहरण के लिए विद्

धातु दिवादि, अदादि, रुधादि और तुदादि गणों में क्रमशः सत्ता, ज्ञान, विचार और लाभ के अर्थ में परिगणित हुई है। यदि यह मानें कि धातुपाठ में धातुओं का अर्थनिर्देश नहीं किया गया तो प्रश्न यह उठता है कि विद् जैसी चार गणों में एक साथ परिगणित धातु का अर्थ एवं गण-निर्धारण किस आधार पर किया गया। संभवतः कुछ धातुओं का निर्देश अर्थ एवं रूप की दृष्टि से उन्हें अन्य धातुओं से पृथक् करने के लिए अर्थ-सहित किया गया हो। यदि यह बात स्वीकार कर ली जाय तब यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि पाणिनि ने कुछ धातुओं का परिगणन अर्थ-सहित किया होगा।

2·3 गणपाठ

गणपाठ को सामान्यतः प्रातिपदिक गणों के क्रमबद्ध परिगणन के रूप में जाना जाता है। यह परिगणन दो रूपों में मिलता है। कुछ गणों में प्रातिपदिकों का परिगणन एक निश्चित संख्या में है तो कुछ में संख्या सीमित नहीं। वैयाकरण संप्रदाय में जिनेन्द्रबुद्धि ही एक ऐसे टीकाकार हैं जो धातुपाठ को पाणिनि-प्रणीत न मानने के अपने विचार के अनुरूप ही पाणिनि को गणपाठ का प्रणेता भी नहीं मानते।[8] उनकी यह भी मान्यता है कि गणपाठ के कुछ अंश कात्यायन के बाद के हैं। पर जिनेन्द्रबुद्धि के विचार परस्पर-विरोधी हैं। उदाहरण के लिए सूत्र 1.3.2 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' संबंधी काशिका के व्याख्यान पर उनकी प्रतिक्रिया को ही लीजिए। काशिकाकार का विचार है कि सूत्र में उपदेश शब्द से 'सूत्रपाठ' और 'खिलपाठ' दोनों का ही ग्रहण होता है। जिनेंद्र 'खिलपाठ' को 'धातु तथा गणपाठ' के रूप में स्पष्ट करते हुए उसे उपदेश का अंग मानते हैं। यहां यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ उपदेश का अंग है और यदि वह पाणिनि-प्रणीत है तो उपदेश के अंतर्गत माने जानेवाले गणपाठ के प्रणेता पाणिनि क्यों नहीं हो सकते। यदि 'सूत्रपाठ' और 'खिलपाठ' के प्रणेता अलग-अलग व्यक्ति हों तो 'खिलपाठ' को उपदेश का अंग कैसे माना जा सकता है। मीमांसक पाणिनि को गणपाठ का प्रणेता मानते हैं। यद्यपि वे यह भी स्वीकार करते हैं कि गणपाठ के परिगणन में पाणिनि ने बहुत कुछ परंपरा से भी प्राप्त किया है। कार्डोना[9] ने इन सभी पहलुओं पर विचार किया है और उनका यह कहना सत्य ही है कि 'सूत्रपाठ' गणपाठ के अस्तित्व को मानकर चलता है।

धातुपाठ के धातु-परिगणन की तरह ही पाणिनि ने गणपाठ में गणों का परिगणन एक विशेष लक्ष्य को दृष्टि में रखकर किया है। ये गण मूलतः सूत्रों द्वारा संपन्न प्रकार्यों को दृष्टि में रखकर निर्धारित किये गये हैं। इतना ही नहीं, गणों में परिगणित प्रातिपदिकों का क्रम भी अक्सर सूत्रकार्य से सीधा

संबंध रखता है। उदाहरण के लिए 1.1.27 'सर्वादीनि सर्वनामानि' और 7.1.25 'अदड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' को ही लीजिए। पहला सूत्र सर्व, आदि (सर्वादिगण में परिगणित) प्रातिपदिकों की सर्वनाम संज्ञा का विधान करता है। सर्वनाम संज्ञा का विशिष्ट प्रयोजन है जिसके अनुसार कुछ ऐसे कार्य हैं जो इन प्रातिपदिकों पर ही लागू होते हैं। दूसरा सूत्र सर्वादि गण में ही पठित 9 प्रातिपदिकों को एक विशेष क्रम में संदर्भित करता है। इसके अनुसार डतर, डतम, इतर, अन्य और अन्यतम के स्थान में 'अदड्' आदेश प्रथमा-द्वितीया एकवचन की विभक्ति से पूर्व नपुंसक लिंग में होता है। एक ओर जहां पाणिनि गण-परिगणन को संदर्भित कर सूत्रीय संक्षिप्तता को सुरक्षित रख पाते हैं, वहीं दूसरी ओर विभिन्न प्रकार्यों का प्रसंग भी व्यवस्थित कर लेते हैं। साथ ही, एक गण के प्रातिपदिकों को सुनिश्चित क्रम में रखने के कारण उन्हें गणों के उपविभाग और सम्बद्ध प्रकार्य निर्णीत करने में भी सुविधा होती है।

3. अष्टाध्यायी का संरचनात्मक गठन

अष्टाध्यायी के संरचनात्मक गठन का अध्ययन करते समय विद्वानों ने दो बातों पर अधिक ध्यान दिया है। एक यह कि अष्टाध्यायी-सूत्रों में कितना पाणिनिकृत है और कितना अपाणिनीय। दूसरे यह कि अष्टाध्यायी के संरचनात्मक गठन का तार्किक स्वरूप क्या होना चाहिए। पवते (Pavate : 1935) ने यह दिखाने की कोशिश की है कि पाणिनि ने अष्टाध्यायी के कितने सूत्र अथवा सूत्रांश अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से अक्षरशः लिये हैं। अष्टाध्यायी के रचनात्मक गठन के तार्किक स्वरूप का विश्लेषण फैडेगन (Faddegon : 1936) और ब्योस्कोल (Buiskool : 1939) ने किया है। राम शंकर भट्टाचार्य ने उन ज्ञापकों की विस्तृत चर्चा की है जिनसे इस बात का पता चल सके कि अष्टाध्यायी के कौन-से अंश प्राक्पाणिनीय हैं। बाहुलिकर (1972) और कार्डोना (1974) ने अभी हाल ही में पाणिनि द्वारा अन्य स्रोतों से लिये गये सूत्र अथवा सूत्रांशों के निर्णय पर पुनर्विचार किया है। कार्डोना का प्रयत्न यह रहा है कि इस संदर्भ में प्राप्त सभी विचारों का (विशेषतः भट्टाचार्य और मीमांसक के) विश्लेषण करके ऐसे निष्कर्ष निकाले जायें जो सत्य के निकट हों। बाहुलिकर का दावा यह है कि अष्टाध्यायी का मूल अंश छोटा था और उस पर बाद में विस्तार थोपा गया। उन्होंने इसी क्रम में फैडेगन और पवते के विचारों पर तीखी आलोचना भी प्रस्तुत की है। इस तरह, कार्डोना को छोड़-कर, अब तक के अध्ययनों में अष्टाध्यायी के संरचनात्मक गठन के नाम पर यही विचार महत्त्वपूर्ण रहा है कि अष्टाध्यायी में कितना पाणिनि का है और कितना दूसरों का। अब समय आ गया है जब इस विषय पर अष्टाध्यायी-

सूत्रों के प्रकार्य को दृष्टि में रखकर विचार किया जाय। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि मेरी दृष्टि में अष्टाध्यायी के अपाणिनीय अंशों का अध्ययन कोई महत्त्व नहीं रखता। ऐसा अध्ययन महत्त्वपूर्ण है पर उतना नहीं, क्योंकि अष्टाध्यायी हमें जिस रूप में मिलती है वह लगभग पूरी की पूरी उसी रूप में आवश्यक भी है। कुछ ही सूत्र या सूत्रांश ऐसे हैं जिनकी उपयोगिता के बारे में संदेह है। यदि पूरी अष्टाध्यायी अपने वर्तमान रूप में उपयोगी है तो उसे समूची पाणिनिकृत ही मानना होगा। क्योंकि इसके अभाव में तथा-कथित अपाणिनीय अंशों के बारे में न सोच पाने की बात पाणिनि की भयंकर अक्षमता होगी। यदि यह माना जाय कि पाणिनि ने उनकी उपयोगिता समझी पर लिया परंपरा से तो भी विशिष्टता पाणिनि की है क्योंकि कोई भी इतर स्रोत से ली गयी सामग्री अष्टाध्यायी का सहज अंग बन जाय—इस प्रयत्न में भी विशेष दक्षता अपेक्षित है।

अष्टाध्यायी के संरचनात्मक गठन के प्रकार्यात्मक अध्ययन से पहले उसकी विषय वस्तु का संक्षिप्त विवरण आवश्यक है। अध्याय 1 में संज्ञा, परिभाषा, अतिदेश, आत्मनेपद, परस्मैपद और कारक के प्रकरण हैं। अध्याय 2 में समास, विभक्ति, धात्वादेश और लुक् के प्रकरण हैं। अध्याय 3 से 5 तक प्रत्ययों का विधान है। इनमें सन्, णिच्, कृत्, ल्, तिङ्, सुप्, स्त्री और तद्धित संबंधी प्रकरण प्रमुख हैं। अध्याय 6-7 में द्वित्व, सम्प्रसारण, संहिता, स्वर एवं अंग संबंधी कार्य हैं। अध्याय 8 के सूत्रों का संबंध पदकार्य से है। यह बताया जा चुका है कि अष्टाध्यायी वाक्यों से पद-घटकों को पृथक् कर पदों का विश्लेषण प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना पर करती है। इसके गठन का सीधा संबंध प्रकार्य से है। तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी की प्रस्तुति इस रूप में की गयी है कि उससे पदों का व्यवस्थित विश्लेषण सुकर हो जाये। ऊपर यह बताया जा चुका है कि किस तरह संज्ञाधिकार निष्पत्तियों की दिशा निर्धारित करता है। यह भी बताया जा चुका है कि प्रत्ययाधिकार में मूल निवेशों की प्रविष्टि लाज़िमी हैं। प्रत्ययाधिकार से निर्गति के बाद अंग, स्वर, संधि एवं पद कार्य होते हैं। इस तरह संज्ञाधिकार से पदाधिकार तक की यात्रा के दौरान कितने ही अधिकारों में सूत्र लगते हैं और मूल अथवा व्युत्पन्न निवेशों पर कई तरह के कार्य होते हैं। इन कार्यों की दृष्टि से अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्रस्तुति की गयी है। पर किसी भी सिद्धि का कौन-सा पथ होगा और कैसे कोई निवेश अपने से संबद्ध सूत्रों तक आसानी से पहुंच जायेगा—इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है। यही कारण है कि क्रमवीक्षण (Scanning) और ट्रैफिक के कई सिद्धांत अष्टाध्यायी की प्रस्तुति में निर्णायक भूमिका अदा करते हैं। निष्पत्तियों की चर्चा करते समय इनमें से कई सिद्धांतों की चर्चा की जायेगी।

स्थानाभाव के कारण कुछ सूत्रों की सहायता से अष्टाध्यायी के कुछ संगठनात्मक प्रभागों का ही यहां विवेचन किया जायेगा ।

आठ अध्याय और 32 पादों में विभक्त अष्टाध्यायी में सूत्रों का परिगणन आनुक्रमिक (Serial) है । पर अधिकारों में परिगणित सूत्रों के लगने का क्रम आनुक्रमिक नहीं है । किसी भी निष्पत्तिवृत्त को सामने रखकर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि निष्पत्तियों में प्रकार्यात्मक क्रम महत्त्वपूर्ण है । आधिकारिक एवं आनुक्रमिक क्रम के समांतर ही प्रकार्यात्मक क्रम होता है जिसके एक पक्ष की यहां चार सूत्रों के माध्यम से चर्चा की जायेगी । ये चार सूत्र हैं : 8.2.1 'पूर्वत्रासिद्धम्', 1.4.1 'आकडाराद् एका संज्ञा', 3.1.9 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' और 6.4.24 'असिद्धवद् अत्राभात्' । सूत्र 8.2.1 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार अष्टाध्यायी के प्रथम सवा सात अध्याय (सपादसप्ताध्यायी) की दृष्टि में अंतिम तीन प:दों (त्रिपादी) के सूत्र असिद्ध माने जायेंगे । इस प्रकार सूत्र 8.2.1 के आधार पर अष्टाध्यायी के दो प्रकार्यात्मक खंड हो जाते हैं : (1) सपादसप्ताध्यायी और (2) त्रिपादी । चूंकि 8.2.1 अधिकार-सूत्र है और इसलिए त्रिपादी के प्रत्येक सूत्र में इसकी अनुवृत्ति होगी, त्रिपादी में भी बादवाले सूत्र पूर्वसूत्रों की दृष्टि में असिद्ध माने जायेंगे ।

(क) असिद्धत्व दो प्रकार का माना जाता है : (1) कार्यासिद्धत्व और (2) शास्त्रासिद्धत्व । जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है, कार्यासिद्धत्व किसी सूत्र द्वारा संपन्न कार्य को असिद्ध जैसा मान लेता है । इसके विपरीत शास्त्रासिद्धत्व किसी सूत्र को किसी उदाहरण पर लगने के पहले ही असिद्ध मान लेता है । असिद्धत्व के पक्ष को हम अदस् शब्द के प्रथमा बहुवचन के रूप 'अमी' की सिद्धि द्वारा स्पष्ट करेंगे । 'अमी' शब्द अदस् के बाद अस् विभक्ति को लाकर निष्पन्न होता है । अदस्+अस् पर दो सूत्र लागू होते हैं : 7.2.102 'त्यदादीनाम:' और 8.2.80 'एत ईद् बहुवचने' । पहले सूत्र द्वारा अदस् के स् के स्थान पर अ होकर अद+अ+अस् रूप बनता है । अद+अ+अस् से कई सूत्रों के बाद अदे रूप बनता है । अदे पर ही 8.2.80 के लगने से अमे रूप बनता है जिसके ए के स्थान पर ई होकर 'अमी' बनता है । सूत्र 7.2.102 सपाद सप्ताध्यायी का है और 8.2.80 त्रिपादी का । अब यदि 8.2.80 के संदर्भ में 7.2.102 को असिद्ध न माना जाय तो 8.2.80 जिस निष्पत्ति रूप पर लागू होगा वह अदस् अर्थात् सकारान्त होगा और इस प्रकार अमी की सिद्धि ही न हो पायेगी ।

(ख) सूत्र 1.4.1 'आकडाराद् एका संज्ञा' भी अधिकार सूत्र है जिसका प्रभाव क्षेत्र 2.2.38 'कडारा: कर्मधारये' तक जाता है । इसी के साथ 1.4.2 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' भी है । पहला सूत्र कहता है कि सूत्र 2.2.38 तक जितनी

संज्ञाएं हैं उनमें एक-एक संज्ञिन के लिए एक ही संज्ञा का विधान करना चाहिए । इस नियम की दृष्टि से एकसंज्ञाधिकार के बाहर संज्ञाओं का समावेश संभव हो जाता है । दूसरा सूत्र यह कहता है कि यदि दो तुल्यबलवाली संज्ञाएं एक ही संज्ञिन पर एक साथ लागू होने लगें तो जो संज्ञा बादवाले सूत्र द्वारा विहित हो उसे ही लागू करना चाहिए । यहां यह स्मरण रहे कि एकसंज्ञाधिकार में जितने भी संज्ञासमावेश के प्रसंग होंगे उनका निराकरण 1.4.2 से, अर्थात् परत्व के बल पर ही नहीं होगा, कुछ का निराकरण स्वयं 1.4.1 द्वारा निरवकाशत्व के बल पर भी हो जाता है । उदाहरण के लिए '.4.10 'ह्रस्वं लघु' और 1.4.11 संयोगे गुरु को ही लीजिए । पहला सूत्र ह्रस्व स्वर की लघु संज्ञा करता है पर जब वही स्वर किसी संयुक्ताक्षर के पूर्व प्रयुक्त होता है तो दूसरा सूत्र उसकी गुरु संज्ञा करता है । 'भिक्षा' के ह्रस्व स्वर (इ) की लघु संज्ञा होगी । पर 1.4.11 से उसकी गुरु संज्ञा भी प्राप्त होगी । पर चूंकि लघु संज्ञा अन्यत्र (भिदि, छिदि में) सावकाश है, और गुरु संज्ञा अन्यत्र सावकाश नहीं है, सूत्र 1.4.10 की ह्रस्व संज्ञा को 1.4.11 की गुरु संज्ञा रोक देगी । यहां 1.4.2 से परत्व का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता क्योंकि सावकाश और निरवकाश संज्ञाओं में तुल्यबलता का प्रश्न नहीं उठता ।

तुल्यबलता के लिए दोनों संज्ञाओं का अन्यत्र सावकाश होना आवश्यक है । परत्व का प्रश्न 1.4.1 द्वारा सुलझायी गयी समस्याओं के संदर्भ में उठाना ही नहीं चाहिए । उदाहरण के लिए 'भवदीय:' की सिद्धि को लीजिए । 'भवत्+ईय्+अ' की स्थिति में 1.4.16 'सिति च' और 1.4.18 'यचि भम्' दोनों ही सूत्र लागू होते हैं । सूत्र 1.4.16 स-इत् वाले छस् प्रत्यय के परे रहते भ-संज्ञा का विधान करता है बशर्ते 'सु-आदि' प्रत्यय सर्वनामस्थान भिन्न हों और उनके आरंभ में य् अथवा कोई स्वर हो । निरवकाशत्व के बल पर यहां पूर्व सूत्र 1.4.16 द्वारा विहित पदसंज्ञा, परसूत्र 1.4..8 द्वारा विहित भ-संज्ञा को लागू नहीं होने देती । यदि परत्व का आधार लेकर 1.4.2 के बल पर भ-संज्ञा लागू हो जाये तो* 'भवतीय:' जैसा अनिष्ट रूप बनने लगेगा । चूंकि सूत्र 1.4.2 एकसंज्ञाधिकार में है और 1.4.1 के आधार पर सपादसप्ताध्यायी में एक संज्ञा का एक प्रकार्यात्मक खंड सिद्ध करना प्रस्तुत विवेचन का लक्ष्य है, 1.4.2 द्वारा निर्णीत परत्व का उदाहरण छोड़ दिया जा रहा है । संक्षेप में 1.4.1-2 के आधार पर सपादसप्ताध्यायी में एकसंज्ञा और संज्ञासमावेश वाले दो प्रकार्यात्मक खंड हो जाते हैं । एकसंज्ञाधिकार में भी अन्यत्र निरवकाश (1.4.1) एवं अन्यत्र सावकाश (1.4.2) के आधार पर एकसंज्ञाविधान इस अधिकार की अपनी विशिष्टता है ।

(ग) सूत्र 3.1.94 'वासरूपोऽस्त्रियाम्' का संबंध पाणिनि-सूत्रों में अप-

वादत्व की प्रक्रिया से है। अष्टाध्यायी के अपवाद-सूत्र अपने सम्बद्ध सामान्य सूत्रों को नित्य ही बांध लेते हैं अर्थात् सामान्य सूत्र का जो क्षेत्र होता है उसमें से अपवाद अपना क्षेत्र अलग कर लेता है। पर 3.1.91 'धातोः' के अधिकार में असमानरूपवाला अपवाद प्रत्यय अपने उत्सर्ग को विकल्प से ही बांध पाता है। पर धातु के ही अधिकार में जो 3.3.93 'स्त्रियां क्तिन्' का अधिकार हैं उस पर यह बात लागू नहीं होती। उदाहरण के लिए सूत्र 3.1.96 'तव्यत्तव्या-नीयरः' को लीजिए जो सामान्य रूप से धातु के पश्चात् तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्ययों का विधान करता है। सूत्र 3.1.97 'अचो यत्' इसका अपवाद है। फलतः जहां 'अचो यत्' लगेगा वहां विकल्प से 3.1.96 भी लगेगा। इस संदर्भ में याद रहे कि प्रत्ययों के रूपसाम्य का निर्णय प्रत्ययों से इतों को हटा-कर ही करना चाहिए। उदाहरण के लिए 3.2.1 'कर्मण्यण्' का अण् प्रत्यय 3.2.3 'आतोऽनुपसर्गे कः' के क से भिन्न नहीं माना जायेगा क्योंकि अण् में ण् और क में क् इत हैं। इन्हें हटा देने पर दोनों का स्वरूप अ ही रह जायेगा। सपादसप्ताध्यायी का एक तीसरा प्रकार्यात्मक खंड इस तरह 'वाऽसरूपन्याय' पर आधारित है।

(घ) अष्टाध्यायी के सूत्र 6.4.22 'असिद्धवदत्राभात्' से 6.4.175 'ऋत्व्यः...' पर्यंत एक अन्य प्रकार्यात्मक खंड है जिसे 'आभीयखंड' का नाम दिया जाता है। सूत्र 6.4.22 के अनुसार आभीयखंड में यदि दो ऐसे कार्य हों जिनमें एक किया जा चुका हो (कृत), दूसरा किया जानेवाला हो (कार्य), और दोनों का निमित्त एक ही हो तो कार्य की दृष्टि में कृत असिद्ध माना जाता है। उदाहरण के लिए 'एधि' को लीजिए जो अस्+लोट्→अस्+सि→अस्+हि→स्+हि →ए+हि और ए+धि के क्रम मे निष्पन्न होता है। यहां दो कार्य हैं: (1) स् के स्थान पर ए का आदेश अर्थात् एत्व और (2) हि के स्थान पर धि का आदेश अर्थात् धित्व। एत्व कृत है और धित्व कार्य है। यहां दोनों का निमित्त (हि) भी समान है। हि के स्थान पर धि सूत्र 6.4.101 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से होता है। इस सूत्र के अनुसार हलादि हि के स्थान पर धि का आदेश होता है बशर्ते हि किसी ऐसे अंग (1.4.13 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्') के बाद आता हो जो या तो हु हो अथवा जिसके अंत में झल् (शिवसूत्र 8-14) हो। एधि की सिद्धि में अंग ए है जो न तो हु है और न ही इसके अंत कोई झल् है। बात यह है कि ए+हि का ए स्+हि के स् के स्थान पर किया गया आदेश है। यह आदेश-सूत्र 6.4.119 'घ्वसोर्...' से होता है। यदि 6.4.119 न लगा होता अर्थात् एत्व न होता तो निष्पत्ति का रूप 'स्+हि' ही होता और इस तरह स् को झलन्त अंग मानकर हि के स्थान पर धि हो जाता। पर स्थिति ऐसी नहीं है। यहीं 6.4.22 की सहायता अनिवार्य हो जाती है। इसके अनुसार धित्व

करने में एत्व असिद्ध मान लिया जायेगा और धित्व करने के लिए स् झलंत अंग मान लिया जायेगा। पूरे विवेचन का तात्पर्य यह है कि सपादसप्ताध्यायी में भी असिद्ध प्रकरण है यद्यपि असिद्धत्व पर (बाद के) सूत्र की दृष्टि में पूर्व सूत्र का न होकर समान निमित्तवाले दो कार्यों में कृत का है।

ऊपर चार सूत्रों के माध्यम से अष्टाध्यायी के दो प्रकार्यात्मक खंडों और उनमें भी प्रथम के तीन प्रकार्यात्मक खंडों का विवरण दिया गया है। सपाद-सप्ताध्यायी में निवेशों की प्रकृति के आधार पर, विशेषतः प्रत्ययाधिकार में, कई प्रकार्यात्मक खंड उपलब्ध हो सकेंगे। इससे सूत्रों के प्रकार्य और सूत्रक्रम पर भी प्रकाश पड़ेगा। उदाहरणार्थ प्रत्ययाधिकार में दो बड़े प्रखंड हैं जिनमें एक का निवेश (Input) धातु (3.1.91 'धातोः') है और दूसरे का प्रातिपदिक अथवा ऐसे भाषिक रूप जिनके अंत में स्त्री-प्रत्यय हो (4.1.1 'ङ्याप्प्रातिपदि-कात्')। 3.1.91 का निवेश धातुपाठ में परिगणित धातु के साथ ही साथ व्युत्पन्न धातु भी हो सकती है। इस अधिकार में तिङ् और कृत दो मूलभूत प्रत्ययों का विधान है। तिङ्प्रत्ययान्त शब्दरूप पद की संज्ञा पाते हैं। कृदन्त शब्दरूप प्रातिपदिक की संज्ञा पाते हैं। प्रातिपदिक होने के कारण इन्हें पुनः 4.1.1 के अधिकार का निवेश बनना पड़ता है। इस तरह 3.1.91 'धातोः' द्वारा निष्पन्न रूप 4.1.1 का निवेश बनता है। इसी तरह 4.1.1 के प्रखंड में भी व्युत्पन्न रूप पुनः निवेश का काम कर सकते हैं। यथा : 4.1.1 में दो प्रकार के निवेशों का संकेत है—एक प्रातिपदिक और दो स्त्री प्रत्ययान्त शब्दरूप। स्त्रीप्रत्ययान्त-निवेश प्रातिपदिकों के बाद इसी अधिकार के अंतर्गुच्छ 4.1.3 'स्त्रियाम्' द्वारा स्त्रीप्रत्यय लगाकर निष्पन्न होते हैं। इस तरह 4.1.1 के प्रातिपदिक से स्त्री-प्रत्यय और तदनुसार 4.1.1 पर पुनः लौटने का चक्र पूरा होता है। 4.1.2 का निवेश बननेवाले प्रातिपदिक पदों की निष्पत्ति करते हैं। 4.1.76 के निवेश तद्धितान्त शब्दरूपों की निष्पत्ति करते हैं। तद्धितान्त होने से इन्हें प्रातिपदिक कहा जाता है और तदनुसार ये पुनः 4.1.1 पर लौटते हैं। इस तरह प्राति-पदिक से तद्धित और तद्धित से पुनः प्रातिपदिक के रूप में 4.1.1 के कुछ निवेशों का दूसरा चक्र सामने आता है। दूसरे चक्र के निवेश 4.1.3 के निवेश भी बन सकते हैं और इस तरह स्त्रीप्रत्ययान्त शब्दरूप होने के कारण ये पुनः 4.1.1 के निवेश बनते हैं। यह 4.1.1 के निवेशों से सम्बद्ध चौथा चक्र होगा। 4.1.2 मे निष्पन्न सुबन्त सिद्धांततः तद्धित और समास प्रक्रिया के अंग हो सकते हैं। समास होने से इन्हें पुनः 4.1.1 पर आना होगा और ये 4.1.2 अथवा 4.1.3 के निवेश बन सकते हैं। निवेशों के प्रकार की दृष्टि से 4.1.1 के निवेशों का यह पांचवां चक्र होगा। ऊपर बताया ही जा चुका है कि 4.1.1 के निवेश के रूप में 3.1.91 के कृदन्त शब्दरूप भी आते हैं। यहां आकर ये 4.1.2 अथवा

4.1.3 या 4.1.76 के भी निवेश बन सकते हैं और इस तरह निवेशों के छठे, सातवें और आठवें चक्र उभरकर सामने आते हैं। आधुनिक भाषाविज्ञान में चक्रिक नियमों (Cyclic rules) की बड़ी चर्चा है। यद्यपि पाणिनि की चक्रिक नियमों की परिकल्पना काफी अलग है फिर भी निवेश-चक्रों में सूत्रों के लगने के क्रम से उनकी चक्रिक नियमों की परिकल्पना का सीधा संबंध है। विस्तार-भय से उसकी और संरचनात्मक गठन-संबंधी अन्य प्रसंगों की यहां चर्चा नहीं की जा सकती।

4. व्याकरणिक संधार और निष्पत्ति प्रक्रिया

पीछे यह संकेत किया जा चुका है कि अष्टाध्यायी का व्याकरणिक संधार प्रजननात्मक (Generative) है। पर यह संधार अपनी तरह का अकेला ही है और इसे चॉम्स्की के प्रजननात्मक संधार के माध्यम से पहचानना भूल होगी। इस बात को शीघ्र ही स्पष्ट किया जायेगा। पाणिनि का व्याकरणिक संधार दो परस्पर-सम्बद्ध विचारणाओं को केंद्र मानता है : वाक्य का सैद्धांतिक ढांचा (Conceptual Structure) और भाषिक इकाइयों का संयोजन (Lexicalizatian or plugging of lexical items)। यदि आप पाणिनि के व्याकरणिक संधार से किसी वाक्य को निष्पन्न करना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आपको उस वाक्य का सैद्धांतिक प्रारूप (सै० प्रा०) प्रस्तुत करना होगा। चूंकि संस्कृत वैयाकरणों की दृष्टि में किसी भी वाक्य का मुख्य कथ्य क्रिया होती है, किसी भी वाक्य के सै० प्रा० की प्रस्तुति क्रिया का संदर्भ लिए बिना संभव नहीं। क्रिया की निष्पत्ति के लिए साधन अथवा कारक आवश्यक हैं। पाणिनि ने कारकों की छह कोटियां परिभाषित की हैं :

(1) अपादान
  1.4.23 'ध्रुवमपायेऽपादानम्'
    'अपाय (अलगाव) व्यक्त होने पर जो ध्रुव हो उस कारक की अपादान संज्ञा होती है।'

(2) सम्प्रदान
  1.4.32 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्'
    'कर्म के माध्यम से कर्त्ता का जो अभिप्रेत हो उस कारक की सम्प्रदान संज्ञा होती है।'

(3) करण
  1.4.42 'साधकतमं करणम्'
    'क्रिया की निष्पत्ति में जो सबसे महत्त्वपूर्ण साधन हो उस कारक की करण संज्ञा होती है।'

(4) अधिकरण
  1.4.44 'आधारोऽधिकरणम्'
    'क्रिया की निष्पत्ति में जो आधार हो उस कारक की अधिकरण संज्ञा होती है।'

(5) कर्म
  1.4.49 'कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म'
    'कर्त्ता जिसका सबसे अधिक अभिप्रेत हो उस कारक की कर्मसंज्ञा होती है।'

(6) कर्त्ता
  1.4.54 'स्वतंत्रः कर्त्ता'
    'क्रिया की निष्पत्ति में स्वतंत्र कारक की कर्त्ता (कर्तृ) संज्ञा होती है।'

संस्कृत व्याकरण-परंपरा में यह मान्यता है कि किसी भी क्रिया की निष्पत्ति में सहायक कारकों का योजन कर्त्ता द्वारा ही होता है। इसी अर्थ में कर्त्ता स्वतंत्र होता है। क्रिया और कारक के सिद्धांत का आधार लेने से यह आवश्यक हो जाता है कि सै० प्रा० की कल्पना में क्रिया और कारकों का योजन करनेवाले कर्त्ता का योग हो ही। इसे यों भी समझा जा सकता है कि जिस तरह अष्टाध्यायी की विश्लेषण पद्धति में सै० प्रा० आवश्यक है उसी प्रकार क्रिया और कर्त्ता सै० प्रा० की अनिवार्यताएं हैं। दूसरे कारकों का साधन रूप में उपयोग बहुत हद तक क्रिया के स्वरूप और भाषा-प्रयोक्ता की विवक्षा (बोलने की इच्छा/ढंग) पर आधारित है।

आइए अब एक वाक्य के सै० प्रा० की चर्चा करें :

(1) रामो वने सीतायै धनुषा मृगं विध्यति
  (राम वन में सीता के लिए धनुष से मृग को बींध रहे हैं।)

इस वाक्य का सै० प्रा० बेधन क्रिया पर आधारित है और इसका कर्त्ता (राम) इस क्रिया के वर्तमानकालिक निष्पादन में संलग्न है। बेधन क्रिया का द्योतन 'विध्' धातु से हो रहा है। अपनी प्रकृति के अनुसार यह क्रिया अपनी निष्पत्ति में साधन रूप अपादान, सम्प्रदान, करण, अधिकरण और कर्म कारकों की उपस्थिति का संकेत दे सकती है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि किसी क्रिया के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसकी निष्पत्ति में सभी कारकों का साधनत्व अपेक्षित हो। उदाहरणार्थ बहुत-सी ऐसी क्रियाएं हैं जिनके अर्थ में अपाय (अलगाव) की कोई गुंजाइश ही नहीं। ऐसी क्रियाओं की प्रकृति अपादान का साधनत्व नहीं स्वीकार करती। इसी तरह अकर्मक क्रियाओं की निष्पत्ति में कर्म के साधनत्व का प्रश्न ही नहीं उठता। अब तक के विवेचन के

आधार पर वाक्य (1) का सं० प्रा० निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है :

(1.1) सं० प्रा० : क्रिया (विध्) कर्तृ (राम)

सम्प्रदान, करण, अधिकरण, कर्म

विध् की प्रकृति ऐसी है कि इसमें अपादान का कारक के रूप में प्रयोग हो सकता है। इसका आधार यह है कि धनुष से अलग होकर ही बाण द्वारा बेधन की क्रिया निष्पन्न हो सकती है। इस तरह बेधन क्रिया में ध्रुव होने से धनुष अपादान हो जायेगा। इसी संदर्भ में यह भी तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि बाण धनुष के बिना छूट ही नहीं सकता, इसलिए बेधन क्रिया की निष्पत्ति में धनुष को करण के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इस तरह अपादान और करण की दो संज्ञाओं में धनुष पर कौन लागू हो—यह समस्या उत्पन्न होती है। कारक संज्ञाओं का विवेचन सूत्र 1.4.1-2 द्वारा नियंत्रित होने के कारण एक वस्तु की एक ही संज्ञा हो सकती है और जहां दो संज्ञाओं का टकराव हो वहां बाद वाले सूत्र द्वारा विहित संज्ञा पूर्वसंज्ञा के विधान को रोक देगी। इस तरह धनुष की करण संज्ञा ही होगी।

सं० प्रा० में कारक-कोटियों के निर्णय के बाद कारक एवं कारकेतर अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया आरंभ होती है। पर इसके पहले कारक-कोटियों तथा अन्य (कारकेतर) कोटियों के मूल अर्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाले निवेशों का संयोजन आवश्यक होगा। यहां यह ध्यान रखना जरूरी है कि कारक और कारकेतर कोटियों के मूल अर्थ का प्रतिनिधित्व करनेवाले निवेशों के संयोजन मात्र से ही उनके प्रकार्य अथवा अन्य कोटियों से उनके अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति नहीं हो जाती। इस तरह निवेशों का संयोजन और प्रकार्य अथवा अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति दो अलग चीजें हैं। संस्कृत में निवेशों की दो कोटियां हैं : धातु एवं प्रातिपदिक। धातुएं दो प्रकार की हैं : एक वे जो धातुपाठ में संगृहीत मूल धातुएं हैं और दूसरी वे जो सनादि प्रत्ययों के योग से निष्पन्न हैं (3.1.23 सनाद्यन्ता धातवः)। प्रातिपदिक भी तीन प्रकार के हैं—एक मूल प्रातिपदिक जिन्हें पाणिनि धातु और प्रत्ययों से इतर अर्थवान् भाषिक रूपों से परिभाषित करते हैं (1.2.45 अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्) और दूसरे समास और कृदन्त तथा तद्धित शब्दरूप (1.2.46 कृत्तद्धितसमासाश्च)। धातु और प्रातिपदिक संस्कृत की मूल प्रकृतियां हैं। वाक्य प्रारूप में कारक कोटियों के उल्लेख के पश्चात् इन्हीं प्रकृतियों का संयोजन होता है। इस तरह वाक्य (1) के सं० प्रा० का व्यवस्थित रूप निम्नलिखित होगा :

(1) सं० प्रा० : क्रिया | (विध्, धातु) — कर्तृ | (राम, प्रातिपदिक)

सम्प्रदान | (सीता, प्रातिपदिक) — करण | (धनुष्, प्रातिपदिक)

अधिकरण | (वन, प्रातिपदिक) — कर्म | (मृग, प्रातिपदिक)

अब अगला कदम अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति का होगा। यह अभिव्यक्ति प्रत्ययों द्वारा होती है जो धातु और प्रातिपदिकों के बाद लाये जाते हैं। यहां यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि कोई भी क्रिया जितने कारकों का साधन रूप में संकेत देती है उन सबका एक ही वाक्य में प्रयोग आवश्यक नहीं। साथ ही साथ जिन कारक कोटियों का नामांकन किसी वाक्य के सं० प्रा० में हुआ है उनके अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति उनके समान्तर संयोजित प्रकृतियों के साथ ही हो, ऐसी बाध्यता भी नहीं। उदाहरण के लिए वाक्य (1) को ही लीजिए। यह सभी जानते हैं कि बेधन क्रिया की निष्पत्ति धनुष से छोड़े गये बाण से ही होती है। पर वाक्य (1) में इसका साधन के रूप में प्रयोग नहीं हुआ है। साथ ही इस वाक्य में कर्त्ता के अभिसंबंध की अभिव्यक्ति राम के बाद प्रत्यय लाकर नहीं की गयी है। इसकी अभिव्यक्ति क्रियापद में प्रयुक्त प्रत्यय ति से हुई है। तात्पर्य यह है कि वक्ता अपनी इच्छानुसार वाक्यों में किसी कारक का साधन रूप से प्रयोग करने के लिए स्वतंत्र है। इसी तरह संबंधों की अभिव्यक्ति भी विविध माध्यमों से की जा सकती है। यदि वक्ता वाक्य (1) में धनुष का साधनरूप में प्रयोग न करना चाहे तो वाक्य (1) का स्वरूप निम्नलिखित होगा :

(2) रामो मृगं विध्यति वने सीतायै।
(इसी तरह वक्ता राम को भी छोड़ सकता है) :

(3) मृगं विध्यति वने सीतायै।
नीचे के वाक्यों में सम्प्रदान और अधिकरण को भी छोड़ दिया गया है :

(4) मृगं विध्यति वने...।

(5) मृगं विध्यति...।

ऊपर के वाक्यों में कारक-कोटियों के अप्रयोग की जो बात कही गयी है उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाल लेना चाहिए कि 'बेधन' क्रिया में साधनरूप

से इनका प्रयोग नहीं होता। इससे यही निष्कर्ष लेना चाहिए कि 'बेधन' की ये मूलभूत साधन कोटियां हैं—वक्ता इन्हें अपनी इच्छानुसार किसी विशेष वाक्य में प्रयोग में लाने के लिए स्वतंत्र है। यही कारण है कि कारक-कोटियों का संकेत, उनकी प्रातिपादकों द्वारा पहचान और उनके अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति—प्रत्येक का अलग-अलग स्तर है। अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति प्रत्ययों से ही होती है किंतु यह आवश्यक नहीं कि ये प्रत्यय कारक विशेष की पहचान करनेवाली प्रकृति के बाद ही प्रयुक्त हों। उदाहरण के लिए नीचे का वाक्य देखें :

(6) रामेण मृगो विध्यते सीतायै वने।

वाक्य (6) तथा (2) का अर्थ एक ही है। दोनों वाक्यों में अंतर इतना ही है कि वे किस प्रकार कर्त्ता और कर्म के अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति करते हैं। वाक्य (2) में कर्त्ता की अभिव्यक्ति क्रियापद के प्रत्यय 'ति' से हुई है और वाक्य (6) में राम के साथ प्रयुक्त तृतीया विभक्ति 'टा' से। इसी प्रकार वाक्य (2) में कर्म की अभिव्यक्ति के लिए मृग के बाद द्वितीया एकवचन की विभक्ति 'अम्' का प्रयोग हुआ है। पर उसी कर्म की अभिव्यक्ति के लिए वाक्य (6) में 'य' का प्रयोग किया गया है। संस्कृत वाक्यों में कर्तृ और कर्म के अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति क्रियापदों में प्रयुक्त प्रत्ययों से भी की जा सकती है। दूसरे कारकों की अभिव्यक्ति क्रियापदों में प्रयुक्त विभक्तियों से नहीं होती।

अब पुनः आइए वाक्य (1) की निष्पत्ति पर। इस संबंध में यह ध्यातव्य है कि व्याकरण द्वारा प्रयुक्त धातु, प्रातिपदिक, कर्तृ एवं अन्य कारक संज्ञाएं, अपने अन्य प्रयोजनों के साथ ही साथ, किसी वाक्य की निष्पत्ति में कब, कहां, कौन से सूत्र लगेंगे, इसका भी संकेत देती हैं। पीछे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार धातु और प्रातिपदिक के मूलनिवेश क्रमशः 3.1.91 'धातोः' और 4.1.1 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' के अधिकारों में भेज दिये जाते हैं। इन अधिकारों में वाक्य (1) के निवेशों के बाद निम्नलिखित प्रत्यय लगते हैं :

(1) सं० प्रा०

क्रिया
|
(विध्, धातु) = विध् + लट्

कर्तृ
|
(राम, प्रातिपदिक) = राम + सु

सम्प्रदान
|
(सीता, प्रातिपदिक) = सीता + ङे

करण
|
(धनुष्, प्रातिपदिक) = धनुष् + टा

अधिकरण
|
(वन, प्रातिपदिक) = वन + ङि

कर्म
|
(मृग, प्रातिपदिक) = मृग + अम्

यहां आकर वाक्य-निष्पत्ति के प्रथम तीन स्तरों—सं० प्रा०, कारक-कारकेतर कोटियों का निदर्शन और अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति—का कार्य समाप्त होता है। इसके बाद की निष्पत्ति-प्रक्रिया प्रायः स्वचालित है। विध् + लट् से विध्यति और राम + सु, सीता + ङे, धनुष् + टा, वन + ङि तथा मृग + अम् से क्रमशः रामः, सीतायै, धनुषा, वने और मृगम् पदरूप निष्पन्न होते हैं। इन्हीं पदों को एक क्रम में रखकर संधिकार्य के बाद 'रामो धनुषा मृगं विध्यति वने सीतायै' जैसे वाक्य निष्पन्न होते हैं। अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति के बाद राम + सु, सीता + ङे, आदि से पदों की सिद्धियां अंग, भ, पद, आदि उपयुक्त संज्ञाविधानों के बाद उनके समान्तर अधिकारों में सूत्रों के लगने से होती है। इस बात की चर्चा हम संदर्भ-श्रेणियों के संदर्भ में कर आये हैं। इसी के साथ हम यह भी बता चुके हैं कि किस प्रकार तिङ् और सुप् संदर्भ-श्रेणियों के बिना विभक्तियों (तिप्, सु आदि) आदि का चयन असंभव हो जायेगा। विध् + लट् से विध्यति की निष्पत्ति के बारे में यह जानना जरूरी है कि लट् लकार है और लकार सकर्मक धातुओं के बाद कर्तृ तथा कर्म और अकर्मक के बाद कर्तृ तथा भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं (3.4.69 लः 'कर्मणि…')। साथ ही, लकारों [वाक्य (1) में लट्] के स्थान पर तिङ् आदेश के रूप में आते हैं (3.4.77 'लस्य', 3.4.78 'तिप्तस्झि…')।

वाक्य (1) की निष्पत्ति के संदर्भ में बताया जा चुका है कि अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति कई माध्यमों से हो सकती है। परिणाम वाक्य-भेद के रूप में लक्षित होता है। वाक्य (1) और (6) के अंतर को इस संदर्भ में उदाहृत किया ही जा चुका है। इस संदर्भ में प्रश्न उठता है कि सम्बद्ध-वाक्यों की निष्पत्ति को सम्बद्ध बताने की प्रविधि क्या है। निष्पत्ति-प्रक्रिया के किस स्तर

पर ज्ञात होगा कि वाक्य सम्बद्ध हैं। 'विध्यति' की सिद्धि में लट् के स्थान पर तिप् का आदेश हुआ है। राम+सु में 'सु' का प्रयोग प्रातिपदिकार्थ की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है। पाणिनि विभक्तियों का प्रयोग इस शर्त पर करते हैं कि उनके द्वारा व्यक्त अर्थों की अभिव्यक्ति अन्यत्र न हो चुकी हो (2.3.1 'अनभिहिते')। यही कारण है कि तिप् द्वारा अभिव्यक्त हो जाने के कारण राम के बाद प्रयुक्त विभक्ति कर्त्ता की अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। इसके विपरीत वाक्य (6) में चूंकि कर्त्ता की अभिव्यक्ति क्रियापद द्वारा नहीं हुई है इसलिए राम के बाद तृतीया का प्रयोग हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि विभक्तियों द्वारा कारक-कारकेतर संबंधों की अभिव्यक्ति के स्तर पर ही वाक्य-सम्बद्धता स्पष्ट हो जाती है। इसी से निष्पत्ति के समान्तर मार्गों का भी संकेत मिल जाता है।

पाणिनि सम्बद्ध वाक्यों की निष्पत्ति का बहुत व्यवस्थित विवरण देते हैं। उदाहरण के लिए वाक्य (7)-(8) को ही लीजिए :

(7) आत्मनः पुत्रम् इच्छति
(···अपने लिए पुत्र की कामना करता है।)

(8) पुत्रीयति

वाक्य (8) में मात्र एक पद है। इसकी निष्पत्ति पुत्रीय धातु के पश्चात् लट् (जिसका आदेश तिप् हो जाता है) प्रत्यय लाकर की जाती है। पुत्रीय अपने आप में एक व्युत्पन्न धातु है जिसकी निष्पत्ति द्वितीयान्त पद, पुत्र+अम्, के पश्चात् 'य' प्रत्यय लाकर की जाती है (3.1.8 'सुप आत्मनः क्यच्')। पुत्र के पश्चात् 'अम्' कर्म की अभिव्यक्ति करता है। अभी यह बताया जा चुका है कि विभक्तिविधान पर सूत्र 2.3.1 'अनभिहिते' की शर्त लगी हुई है। तात्पर्य यह है कि जब तक वाक्य सँ० प्रा० में कर्म की अभिव्यक्ति अन्यत्र होगी तब तक 'अम्' का प्रयोग नहीं हो सकता। अस्तु ! वाक्य-संदर्भ की जांच किये बिना 'अम्' को नहीं लाया जा सकता। पाणिनि इसका प्रावधान पुत्रीयति की निष्पत्ति के संदर्भ में सूत्र 3.1.8 पर लगायी गयी शर्त द्वारा करते हैं। इस सूत्र द्वारा 'य' का विधान 'इष्' (चाहना) धातु के कर्म को द्योतित करनेवाले पद के बाद होना चाहिए। साथ ही, इष् का कर्तृ ही व्युत्पन्न धातु (यहां पुत्रीय) का कर्तृ भी होना चाहिए और कर्म की इच्छा कर्त्तृ की अपने लिए ही होनी चाहिए। इन समस्त शर्तों का प्रतिनिधित्व 'पुत्रीयति' के सँ० प्रा० में होना चाहिए :

(8.1) पुत्रीयति

(अ) धातु (इष्)   कर्तृ
कर्म (पुत्र)

(ब) इष्+लट्   कर्तृ (अन्य पुरुष एकवचन-अनिर्दिष्ट)
पुत्र+अम्   आत्मन्+ङ स्

(स) इच्छति पुत्रम्आत्मनः
'अपने लिए पुत्र चाहता है'

ऊपर के संक्षिप्त व्युत्पत्तिवृत्त में (ब) के स्तर पर सूत्र 3.1.8 की सहायता से पुत्रीयति भी निष्पन्न हो सकता है।

पुत्र+अम्+य/इष्+लट्   आत्मन्+ङस्/
जहां इष् का कर्तृ ही आत्मन् द्वारा संकेतित हो
और पुत्र+अम् इष् का ही कर्म भी हो।
↓
पुत्रीयति

संक्षेप में पुत्रीयति की निष्पत्ति (8.2) से संभव है :

(8.2) आत्मन्+ङस् पुत्र+अम् इष्+लट्

वाक्य (7) (8) दोनों ही की निष्पत्ति (8.2) से होती है। चूंकि पाणिनि (8) की सिद्धि (8.2) से (7) के विकल्प के रूप में करते हैं, (7) (8) दोनों का अर्थ एक ही है और फलतः दोनों ही संबद्ध वाक्य हैं। अष्टाध्यायी की निष्पत्ति-प्रक्रिया में अनेक संबद्ध वाक्यों का विवरण मिलता है। यहां विस्तार-भय से उनकी चर्चा नहीं की जा सकती। पाठक विस्तार के लिए कार्डोना के 'सम फीचर्स ऑव पाणिनियन डेरिवेशंस' निबंध को देख सकते हैं।

पिछले विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनीय व्याकरणिक संधार में वाक्य के सैद्धांतिक प्रारूप का महत्त्व है। विशेषतः कारक-कोटियों के निदर्शन और अभिसंबंधों की अभिव्यक्ति का पक्ष इसकी विशिष्टता है। इन्हीं पक्षों को लेकर पाणिनि के व्याकरणिक संधार की कई समीक्षाएं की गयी हैं जिनका परीक्षण किये बिना यह अध्ययन अधूरा ही रह जायेगा। रूडबेर्गेन (Roodbergen, 1974) अष्टाध्यायी के व्याकरणिक संधार की तुलना चॉम्स्की (Chomsky) के 'सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर्स' में उल्लिखित मशीन से करते हैं और यह भी संकेत देते हैं कि अष्टाध्यायी शब्दों की निष्पत्ति ही करती है। वस्तुतः चॉम्स्की की मशीन व्याकरणों के एक वर्ग को संदर्भित करती है जिसे 'फ्रेज स्ट्रक्चर ग्रैमर' अर्थात् एफ़-एस-जी (F S G) के नाम से जाना जाता है। कुछ कृत्रिम भाषाओं की चर्चा करने के बाद चॉम्स्की बड़े विश्वासपूर्ण स्वर में यह निष्कर्ष देते हैं कि मानव-भाषा की निष्पत्ति में एफ़-एस-जी कोटि के व्याकरण पूर्णतया असमर्थ हैं। यदि रूडबेर्गेन की यह बात मान ली जाय कि पाणिनि का व्याकरणिक संधार चॉम्स्की द्वारा उल्लिखित मशीन की भांति ही काम करता है और यह भी कि संस्कृत मानव-भाषा है तो यह भी मानना पड़ेगा कि एफ़-एस-जी के दोष अष्टाध्यायी में भी हैं। एफ़-एस-जी की चर्चा करने में चॉम्स्की

का उद्देश्य यह था कि वे प्रभावी ढंग से हॉकेट के 'ए मैनुअल ऑव फोनॉलजी' के सिद्धांत (जो एफ़-एस-जी कोटि के व्याकरणों पर लागू होते हैं) का खंडन कर सकें। यदि अष्टाध्यायी एफ़-एस-जी की तरह काम करती है तो उसे हॉकेट की 'ए मैनुअल···' कोटि का भी मानना पड़ेगा। कहने की आवश्यकता नहीं कि रूडबेर्गेन के विचार भ्रमपूर्ण और अव्यवस्थित हैं। 'पाणिनि का व्याकरणिक संधार' शब्दों की निष्पत्ति ही कर पाता है, यदि इस बात को स्वीकार कर लिया जाय तो अष्टाध्यायी एक पदग्रामिक व्याकरण मात्र रह जायेगी। यह बताया जा चुका है कि अष्टाध्यायी वाक्यनिष्पत्ति-हेतु शब्द-निष्पत्ति को माध्यम बनाती है। यदि ऐसा न हो तो शब्दों का वाक्य-संदर्भ बिना ही निष्पादन संभव होगा। वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। मेरा यह दावा है कि वाक्य-संदर्भ के बिना अष्टाध्यायी से शब्दों की निष्पत्ति हो ही नहीं सकती। ऊपर पुत्र+अम्→पुत्रम् और पुत्रीयति के संदर्भ में यह बात स्पष्ट की जा चुकी है। वाक्य-संदर्भ की आवश्यकता भी इस बात को स्पष्ट करती है कि पाणिनि का संधार पदग्रामिक नहीं है।

'ट्रांस्फ़ार्मेशनल-जेनरेटिव ग्रैमर' के समर्थकों ने पाणिनीय संधार में विभिन्न स्तरों की खोज का भी प्रयास किया है। निष्पत्ति के सतही (Surface) और गहन (Deep) धरातलों की चर्चा इस संदर्भ में आवश्यक मानी जाती है। यदि ऊपर बतायी पुत्रीयति की (8.2) से की गयी निष्पत्ति के आधार पर कोई यह कहे कि पुत्रीयति 'सरफ़ेस स्ट्रक्चर' है और (8.2) तथा उसके पूर्व के अन्य प्रसंग 'डीप स्ट्रक्चर' तो मुझे यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी कि पाणिनि के व्याकरणिक संधार में भी ये दो धरातल हैं। मेरा तीव्र मतभेद तो तब उठता है जब 'डीप' से 'सरफेस' तक की यात्रा के दौरान विभिन्न स्तरों और उन्हें जोड़नेवाले 'ट्रान्स्फ़ार्मेशंस' को अष्टाध्यायी के संधार पर थोपने की कोशिश की जाती है। अनिन्न सिन्हा (1973) और किपार्स्की तथा स्टाल (Kiparsky and Staal, 1969) द्वारा एक विस्तृत अर्थग्रामिक स्तर की परिकल्पना के मूल में यही कोशिश काम करती है। वस्तुतः पाणिनि की दृष्टि में लोकव्यवहार का भाषिक रूप इतना महत्त्वपूर्ण है कि वे उसके विवरण में किसी प्रकार के ऐसे अमूर्त्त विश्लेषण (abstract analysis) को स्वीकार ही नहीं कर सकते जो लोकप्रयुक्त भाषिक रूप और उसके विवरणों के बीच लंबी खाई का काम करे। 'डीप स्ट्रक्चर' का अस्तित्व माननेवालों को यह जानकर गहरी निराशा होगी कि पाणिनि का 'डीप स्ट्रक्चर' बहुत गहरा नहीं।

यह भी प्रयास किया गया है कि पाणिनि के कारक-स्तर को 'डीप स्ट्रक्चर' के रूप में स्वीकार किया जाय। वस्तुतः इसमें दो अड़चनें हैं—एक यह कि कारक-कोटियों का निर्धारण करते समय पाणिनि कई बार 'सरफेस स्ट्रक्चर'

की शर्तों का प्रावधान करते हैं। यही कारण है कि सोपसर्ग धातुओं के कारकों की कई कोटियां सामान्य कारक परिभाषाओं के अंतर्गत नहीं आतीं। दूसरी अड़चन यह है कि कारक-कोटियों को अर्थग्रामिक अथवा वाक्यग्रामिक—क्या माना जाय ? पाणिनि की कारक-कोटियां वाक्यग्रामिक हैं पर उनके निर्धारण में वे अर्थग्रामिक संदर्भों का भी उपयोग करते हैं। इसी अर्थ में चॉम्स्की-फिलमोर की तुलना में पाणिनि विशिष्ट हो जाते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि पाणिनि का व्याकरणिक संधार अपनी तरह का अकेला ही है। उसमें किसी दूसरे संधार की विशिटष्ताएं ढूंढ़ने का प्रयास व्यर्थ होगा।

परिशिष्ट

1. टिप्पणी

* यह निबंध उस समय लिखा गया था जब मैं स्मिथ्सोनियन इंस्टीट्यूशन के शोध अनुदान पर भारत में 'अमेरिकन इंस्टीट्यट ऑव इंडियन स्टडीज' का फेलो (1982-83) था। अनुदान के लिए मैं स्मिथ्सोनियन और अमेरिकन इंस्टीट्यूट का आभारी हूं। भारत में मेरे शोध-कार्य को सर्वथा निरापद बनाने का श्रेय अमेरिकन इंस्टीट्यूट के डायरेक्टर श्री प्रदीप मेंहदीरत्ता को है जिनके सौहार्द और कार्यकुशलता की चर्चा जितनी भी की जाय, कम है। साथ ही अपने विश्वविद्यालय, यूनिवर्सिटी ऑव हवाई, होनोलुलु (अमरीका), के अधिकारियों का भी आभारी हूं जिन्होंने शोध-कार्य के लिए मुझे अवकाश की सुविधा दी।

1-2. अथ शब्दानुशासनम्···केषां शब्दानाम् ? लौकिकानां वैदिकानां च। किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः···अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते, वृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति।
(व्याकरण महाभाष्य, खंड 1, पृ॰ 1-5)

3. कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ? किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। सामान्येनोत्सर्गः कर्त्तव्यः, तस्य विशेषेणापवाद। वही, पृ॰ 6।

4. एतस्मिन्नार्यदेशे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्याः अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किंचिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्रभवंतः शिष्टाः। वही, पृ॰ 6।

5. तत्र प्रतिवाक्यं संकेतग्रहासंभवात्तदन्वाख्यानस्य लघूपायेनाशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययविभागकल्पनेन कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागं शास्त्रमात्रविषयं परिकल्पयंति स्माचार्याः। (नागेशकृत परमलघुमंजूषा, पृ॰ 4)

6. सिंटैक्टिक स्ट्रक्चर्स, पृ॰ 5।

7. 'रेफरेंशल इंडिसीज इन पाणिनि', इंडो-ईरानियन जर्नल।

8. काशिका सूत्र 1.3.2 उपदेशे···पर न्यास।

9. कार्डोना 1976a, पृ॰ 142-167।

10. विस्तार के लिए देखिए रूडबेर्गेन पर मेरी समीक्षा, पृ॰ 281-4।

संदर्भ-ग्रंथसूची

(अ) हिंदी-संस्कृत

काशिकावृत्ति, पदमंजरीन्यास-सहित, संपादक द्वारिकादास शास्त्री तथा कालिकाप्रसाद शुक्ल, 6 खंड, वाराणसी, 1965-67।

पतंजलिकृत व्याकरण-महाभाष्य, संपादक एफ० कीलहार्न, खंड 1 (का० वा० अभ्यंकर कृत, तृतीय संस्करण) पूना, 1962, खंड 2 (का० वा० अभ्यंकर कृत, तृतीय संस्करण) पूना, 1965, खंड 3, बंबई, 1885।

नागेशकृत परमलघुमंजूषा (नित्यानंद पंत पर्वतीय संपादित) वाराणसी, 1974।

भट्टाचार्य, रामशंकर — पाणिनीय व्याकरण का अनुशीलन, वाराणसी, 1966।

मीमांसक, युधिष्ठिर — संस्कृत व्याकरण-शास्त्र का इतिहास, खंड 1, सोनीपत (बहालगढ़), 1972।

शर्मा, रमानाथ — पाणिनि-व्याकरण में प्रजनक प्रविधियां, आगरा (केंद्रीय हिंदी संस्थान), 1976।

(ब) अंग्रेजी

Bahulıkar, S — Some criteria for determining the insertions in the Astadhyayi (Harvard Univerrity dissertatıon, unpublised), 1972.

Bloomfield, L — Language, New Yoɪk, 1933.

Buiskool, H. E. — The Tripadi : being an abridged English recast of Purvatras ddham, Leiden (Brill), 1936.

Cardona, George. — Panini, A Survey of research, The Hague-Paris (Mouton), 1976a.

— "Some features of Paninian derivations", History of linguistic thought and contemporary linguistics (Ed. H. Paret). Berlin : de Gruyter, 1976b.

— Studies in Indian grammarians, I : the method of description reflected in the sivasutras (=TAPS 59.1), Philadelphia, 1969.

Chomsky, Noam — Syntactic structures, The Hague : Mouton, 1957.

Faddegon, Barend. — Studies on Panini's grammar, 1936.

Hockett, C. F. — A mannual of phonology, Baltimore, 1955.

Kiparsky, Paul & Staal, J. F. — "Syntactic and semantic relations in Panini", Foundations of Language, 5 (1969), 83-117.

Pavate, I. S. — The structure of the Astadhyayi, Hubli, 1935.

Sharma, R. N. — "Referential indices in Panini", Indo-Iranian Journal, 17 (1975), 31-39.

— Review of Patanjali's Vyakarana-mahabhasya, English Translation by J. A. F, Roodbergen, Poona, 1974.

Sinha. A. C. — "Generative semantics and Panini's Karakas", Journal of the Oriental Institute of Baroda, 23 (1973), 27-39.

Staal, J. F. (Ed.) — Studies in Indian grammarians, Cambridge, 1972.

अपनी ओर से

भाषाचिंतन और विश्लेषण की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। अन्य परंपराओं की भांति इसका इतिहास भी अटूट श्रृंखला में बंधा है। यह बात दूसरी है कि इसके विकासक्रम में ऐसे कई मोड़ भी आए हैं जिनकी सही पहचान के अभाव में यह विकास-परंपरा जगह-जगह पर टूटती-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः भाषा-चिंतन के क्षेत्र में आनेवाले ये मोड़ भाषावैज्ञानिक सिद्धांतों के लिए एक नये संदर्भ और एक नये आयाम के सूचक हैं। ये मोड़ भाषा-संबंधी हमारे ज्ञान के तत्कालीन पूरे आयाम (पैराडाइम) के बदलाव के परिणाम हैं। हम जानते हैं कि जब 'पैराडाइम' बदलता है, तब एक नये 'संसार' का जन्म होता है। चिंतन-धारा से सम्बद्ध नयी दृष्टि नये-पुराने तथ्यों पर एक नये कोण से प्रकाश डालती है। वह न केवल पूर्व-प्रचलित प्रश्नों का नये ढंग से उत्तर ढूंढ़ती है वरन् नये प्रकार के प्रश्नों को भी उभारती है। तथ्य और आंकड़े वही रह सकते हैं, पर नूतन दृष्टि और नये प्रश्नों के कारण उनका संयोजन और विन्यास बदल जाता है।

प्रस्तुत पुस्तक द्वारा भाषाचिंतन के 'पैराडाइम' को क्रांतिकारी ढंग से बदलने वाले पांच प्रमुख भाषाविदों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इनमें से दो—**पाणिनि** और **भर्तृहरि**, भारतीय चिंतन-परंपरा के कीर्तिस्तंभ हैं और तीन—**सस्यूर, ब्लूमफ़ील्ड** और **चॉम्स्की**, आधुनिक भाषाविज्ञान के पाश्चात्य पुरोधा। आधुनिक भाषाविज्ञान के संदर्भ में पाणिनि और भर्तृहरि की चर्चा मात्र भारतीय होने के कारण नहीं की गयी है। आज देश और विदेश के भाषावैज्ञानिक, इनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत और प्रणाली का दबाव अनुभव कर रहे हैं। न केवल आधुनिक ज्ञान के संदर्भ में इनके सिद्धांतों की पुनर्व्याख्या का प्रयत्न हो रहा है, अपितु भाषा-संबंधी आधुनिक चिंतन के मूल्यांकन के लिए इन्हें 'कसौटी' भी मानने का प्रयत्न चल रहा है। यह सब अकारण नहीं है। आज के प्रायः सभी भाषाचिंतक यह स्वीकार करते हैं कि 'पाणिनि की अष्टाध्यायी मानव-मेधा का अन्यतम प्रमाण

है'। इसी प्रकार भर्तृहरि को आज के विद्वान महावयाकरण और पदवाक्य-प्रमाणज्ञ के रूप में देखते हैं और उनके 'वाक्यपदीय' को व्याकरण-दर्शन की अभूतपूर्व कृति मानते हैं। जहां तक 'सस्यूर' का प्रश्न है, वे न केवल आधुनिक भाषाविज्ञान के 'जनक' के रूप में प्रख्यात हैं, बल्कि चिंतक के रूप में वे आज भी हमारे बीच जीवित हैं। इनका प्रभाव इतना व्यापक है कि भाषा-शोध का कोई भी नया क्षेत्र क्यों न सामने आए, बिना इनके सिद्धांतों से टकराए वह अपनी मान्यता नहीं प्राप्त कर सकता। ब्लूमफ़ील्ड ने सस्यूर की संरचनावादी दृष्टि को न केवल व्यापक संदर्भ दिया, बल्कि प्रणाली की वैज्ञानिक परिशुद्धता की संकल्पना से उसे जोड़कर सही अर्थों में भाषावैज्ञानिक चिंतन को संक्रियात्मक बनाया। नोम चॉम्स्की आधुनिक युग के सर्वाधिक चर्चित और प्रभावशाली भाषाविद् हैं। उनके द्वारा विकसित रचनात्मक-प्रजनक भाषाविज्ञान ने एक ओर पूर्व प्रचलित मान्यताओं को झकझोर कर विस्थापित कर दिया और दूसरी ओर भाषा-अध्ययन की एक नयी दिशा का सूत्रपात किया। उन्होंने भाषा और मनुष्य के संबंधों की आभ्यंतर प्रकृति की खोज का रास्ता अपनाते हुए जिस भाषा-सिद्धांत की नींव डाली उससे केवल भाषाविज्ञान ही प्रभावित नहीं हुआ वरन् मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र आदि के क्षेत्र भी आज आंदोलित हो उठे हैं।

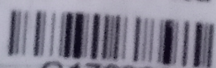
आशा है, प्रस्तुत पुस्तक से इन पांच मूर्धन्य भाषावैज्ञानिकों के व्यक्तित्व और कृतित्व पर समुचित प्रकाश पड़ेगा और भाषाचिंतन के क्षेत्र में आनेवाले पांच प्रमुख 'मोड़ों' की कहानी को भी उसका सही संदर्भ प्राप्त हो सकेगा।

—**रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव**

अनुक्रम

भाषाशास्त्र के सूत्रधार

प्रधान संपादक : डॉ॰ नगेन्द्र



सपादक : डॉ॰ रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव